

खंड

# 2

## निर्माणकारी चरण

---

इकाई 5

भारतीय राष्ट्रवाद की बुनियाद

5

इकाई 6

आर्थिक राष्ट्रवाद

15

इकाई 7

बौद्धिक एवं सामाजिक क्षेत्र में उपनिवेशवाद का प्रतिरोध

28

इकाई 8

उग्र एवं जन आधारित राजनीति की ओर-स्वदेशी आंदोलन

39

## विशेषज्ञ समिति

प्रो. मृदुला मुखर्जी  
प्रोफेसर, इतिहास  
सेंटर फॉर हिस्टॉरिकल  
स्टडीज, जे.एन.यू.  
नई दिल्ली

प्रो. आदित्य मुखर्जी  
प्रोफेसर, इतिहास  
सेंटर फॉर हिस्टॉरिकल  
स्टडीज, जे.एन.यू.  
नई दिल्ली

प्रो. अपर्णा बसु  
पूर्व-प्रोफेसर, इतिहास  
दिल्ली विश्वविद्यालय  
दिल्ली

प्रो. के.एल. टुटेजा  
पूर्व-प्रोफेसर, इतिहास  
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र

प्रो. सुचेता महाजन  
प्रोफेसर, इतिहास  
सेंटर फॉर हिस्टॉरिकल  
स्टडीज,  
जे.एन.यू., नई दिल्ली

प्रो. जी.पी. शर्मा  
इतिहास एवं संस्कृति विभाग  
जामिया, मिलिया इस्लामिया  
नई दिल्ली

डॉ. विशालाक्षी मेनन  
जीसस एण्ड मेरी कॉलेज  
दिल्ली विश्वविद्यालय  
दिल्ली

प्रो. सलिल मिश्रा  
इतिहास विभाग  
अंबेडकर विश्वविद्यालय  
दिल्ली

प्रो. कपिल कुमार  
इतिहास संकाय  
इग्नू, नई दिल्ली

प्रो. रविन्द्र कुमार  
इतिहास संकाय  
इग्नू, नई दिल्ली

प्रो. ए.आर.खान  
इतिहास संकाय  
इग्नू, नई दिल्ली

प्रो. स्वराज बसु  
इतिहास संकाय  
इग्नू, नई दिल्ली

प्रो. एस.बी. उपाध्याय  
(पाठ्यक्रम संयोजक)  
इतिहास संकाय  
इग्नू, नई दिल्ली

\* इस पाठ्यक्रम की संकल्पना करने तथा प्रारंभ करने हेतु हम प्रो. सलिल मिश्रा के आभारी हैं।

## पाठ्यक्रम संयोजक

प्रो. एस.बी. उपाध्याय

## कार्यक्रम संयोजक

प्रो. स्वराज बसु

## खंड निर्माण दल

इकाई सं.	इकाई लेखक	इकाई सं.	इकाई लेखक	अनुवादक
इकाई 5	प्रो. स्वराज बसु इतिहास संकाय इग्नू, नई दिल्ली	इकाई 7	प्रो. श्री कृष्ण इतिहास विभाग इंदिरा गांधी विश्वविद्यालय रेवाड़ी	डॉ. सुशील कुमार तिवारी
इकाई 6	प्रो. एस.बी. उपाध्याय इतिहास संकाय इग्नू, नई दिल्ली	इकाई 8	डॉ. राजशेखर बसु इतिहास विभाग कलकत्ता विश्वविद्यालय	

## सामग्री निर्माण

श्री मंजीत सिंह  
अनुभाग अधिकारी (प्रकाशन)  
सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ, इग्नू, नई दिल्ली

मार्च, 2016

©इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, 2016

ISBN-978-81-266-6917-2

सर्वाधिकार सुरक्षित, इस कार्य का कोई भी अंश इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना मिनियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ एवं इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रमों के बारे में विश्वविद्यालय कार्यालय मैदान गढ़ी नई दिल्ली से अधिक जानकारी प्राप्त की जा सकती है।

इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की ओर से निदेशक, सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित।

लेजर टाइप सेटिंग : टेसा मीडिया एण्ड कम्प्यूटर, C-206, A.F.Enclave-II, नई दिल्ली

मुद्रक :

---

## खंड 2 निर्माणकारी चरण

---

### प्रस्तावना

19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध के दौरान विभिन्न बौद्धिक एवं राजनीतिक क्रियाकलापों ने संगठित राष्ट्रवाद के उदय के लिए ज़मीन तैयार की। प्रांतीय संघों के निर्माण, औपनिवेशिक शासन का नस्लवादी रुझान, 1857 के विद्रोह की विरासत, साथ ही राष्ट्रवाद एवं सुधारों के पक्ष में बौद्धिक क्रियाशीलता तथा बाद में कुछ लोकप्रिय विद्रोहों ने भारत में राष्ट्रवाद की नींव रखी। **इकाई 5** आपको इस प्रक्रिया के विवरण से परिचित कराएगा।

औपनिवेशिक शासन के खिलाफ बौद्धिक विरोधों के सबसे महत्वपूर्ण तरीकों में से एक आर्थिक राष्ट्रवाद का विचार था। भारतीय राष्ट्रवादियों द्वारा यह तर्क दिया गया कि उपनिवेशवाद भारत के आर्थिक शोषण पर आधारित था, कि भारतीय धन की विदेशों की तरफ निकासी ब्रिटिश शासन के आधारभूत विदेशी चरित्र को प्रदर्शित करती है, कि मशीनों द्वारा निर्मित ब्रिटिश साज़ो-सामान की भारतीय बाज़ारों पर चढ़ाई द्वारा देसी उद्योगों को नष्ट कर दिया गया, कि ब्रिटिश औपनिवेशिक विस्तार के लिए प्रारंभिक रूप से छोड़े गये युद्ध में भारतीय किराए के टट्टू के रूप में कार्य करने को मजबूर हो गए, और कठोर औपनिवेशिक राजस्व नीतियों की वजह से भारतीय किसानों का शोषण किया गया। इस प्रकार के कार्य धीरे-धीरे फैलते गये जिसके फलस्वरूप भारतीयों के एक विशाल वर्ग ने उपनिवेशवाद के विरुद्ध खड़े हुए राष्ट्रवाद से जुड़कर उसे मज़बूत किया। हमने इन विचारों की चर्चा **इकाई 6** में की है।

**इकाई 7** उपनिवेशवाद के बौद्धिक और सामाजिक प्रतिरोध की प्रक्रिया, खासकर भारतीय बौद्धिक वर्ग में, का विश्लेषण करती है। विश्वबंधुत्व, तार्किकता, धार्मिक सार्वभौमवाद, परंपरा की रक्षा, यहां तक कि अनुकरण भी अलग-अलग तरीकों से एक ऐसे परिवेश का सर्जन कर रहे थे जिसमें उपनिवेशवाद के बौद्धिक और सांस्कृतिक बढ़ाव का प्रतिरोध हो सके।

जैसे-जैसे दशकों तक उपनिवेश विरोधी विचारों का संचय होता गया, और जैसे-जैसे औपनिवेशिक शासन के बरक्स लोकप्रिय प्रतिरोध निर्मित हुआ, हमने एक संगठित राष्ट्रवादी आंदोलन के रूप में स्वदेशी आंदोलन के उभार को देखा। इसका सर्वाधिक प्रभाव बंगाल में महसूस किया गया। परंतु, यह भारत के अन्य भागों में भी उपस्थित था। **इकाई 8** में आप इस आंदोलन के उद्भव, विकास और अवसान के बारे में जानेंगे।



---

## इकाई 5 भारतीय राष्ट्रवाद की बुनियाद\*

---

### संरचना

- 5.1 प्रस्तावना
- 5.2 लोकप्रिय विद्रोहों की विरासत
- 5.3 बौद्धिक जागरण
- 5.4 प्रांतीय राजनीतिक संगठन
- 5.5 ब्रिटिश प्रशासनिक कार्रवाई
- 5.6 भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना
- 5.7 इतिहासकारों की व्याख्याएँ
- 5.8 सारांश
- 5.9 अभ्यास

---

### 5.1 प्रस्तावना

---

यह इकाई 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में भारत में 'राजनीतिक जागरण' की प्रक्रिया से होते हुए 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना से आपको परिचित कराएगी। 1857 का महान विद्रोह ब्रिटिश शासन के विरुद्ध जन असंतोष की पराकाष्ठा के रूप में और ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध लंबे चलने वाले संघर्ष की शुरुआत माना गया। बंगाल, मुंबई और मद्रास के सूबों में, जहाँ ब्रिटिश ने सबसे पहले अपने पाँच जमाने की शुरुआत की, नवीन बुद्धिजीवी वर्ग, जो पाश्चात्य शिक्षा का लाभार्थी था, वह औपनिवेशिक शासन के शोषक चरित्र का आलोचक बन गया। प्रांतीय राजनीतिक संगठनों को आकार देने की पहल समाज के इसी संभ्रांत वर्ग से हुई। यद्यपि भारत के विभिन्न भागों में जनजातियों और किसानों ने साम्राज्यवाद के विरुद्ध आवाज़ उठाई, परन्तु उद्देश्य में एकरूपता नहीं थी। राजनीतिक जागृति की प्रक्रिया ने 19वीं सदी के उत्तरार्ध में एक निश्चित आकार लिया। इस इकाई में हम नयी राजनीतिक चेतना के विकास में लोकप्रिय विद्रोहों के प्रभाव तथा जनमत के एकीकरण में शिक्षित भारतीयों के योगदान के बारे में चर्चा करेंगे। हम आपको इस युग के राजनीतिक विकास के परिणामस्वरूप भारतीय राष्ट्रवाद के उदय से परिचित कराएंगे। आप प्रांतीय संगठनों के निर्माण, 1870 एवं 1880 के दशकों में ब्रिटिश विरोधी मतों के विकास में ब्रिटिश प्रशासनिक मानदंडों के योगदान और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना के बारे में भी जान पाएँगे। आप यह भी समझ पाएँगे कि इतिहासकारों ने किस प्रकार भारतीय राष्ट्रवाद के आरंभ को विश्लेषित किया।

---

### 5.2 लोकप्रिय विद्रोहों की विरासत

---

ब्रिटिश शासन का मुख्य लक्ष्य था भारत में ब्रिटेन के हितों को प्रसारित और सुरक्षित करना। भारत में इस मिशन को पूर्ण करने के लिए ब्रिटिश सरकार द्वारा आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्रों में विभिन्न नीतियों को लागू किये जाने से ब्रिटिश शासन के विरुद्ध असंतोष और अखिल भारतीय राष्ट्रवाद के विचार का जन्म हुआ। ब्रिटिश शासन के प्रारंभिक सौ वर्ष में भारत के संसाधनों की लूट की वजह से भारत में बड़े अकाल पड़े।

---

\*इकाई लेखक : प्रो. स्वराज बसु

निश्चित ही अकाल भारत के लिए नये नहीं थे परंतु उन अकालों का कारण प्राकृतिक आपदाएँ नहीं थीं। ब्रिटिश शासन के दौरान अकाल मानव निर्मित थे जिनका कारण ब्रिटिश सरकार की शोषणकारी नीतियाँ थीं। नयी भू-राजस्व प्रणाली, कृषि के वाणिज्यीकरण, धन की निकासी और वि-औद्योगिकीकरण ने किसानों तथा जनजातियों पर नकारात्मक प्रभाव डाला, जिन्होंने 18वीं तथा 19वीं सदी के दौरान भारत के विभिन्न भागों में विद्रोह किया। 1760 में बंगाल में सन्यासी एवं फकीर विद्रोहों से लेकर 1850 के भागलपुर-राजमहल क्षेत्र के संथाल विद्रोह तक भारत भारतीय समाज के विभिन्न भागों में लगभग सौ विद्रोहों का गवाह बना। ये विद्रोह किसी केंद्र विशेष से जुड़े नहीं थे, न ही उनका कोई केन्द्रीय नेतृत्व था, न ही ये ब्रिटिश शासन के विस्तार को रोकने में सफल हो पाए, किन्तु इन विद्रोहों ने निश्चित रूप से ब्रिटिश शासन के प्रति भारतीयों की भावना को व्यक्त किया। इन विद्रोहों द्वारा ब्रिटिश सत्ता को दी गई चुनौती ने विदेशी शासन के शोषणकारी चरित्र के प्रति जनजागृति पैदा करने में मदद की तथा ब्रिटिश शासन के विरुद्ध भावनाओं के विकास में योग किया।

1857 के महान विद्रोह को सत्ताच्युत राजाओं, और असंतुष्ट सैनिकों तथा पीड़ित किसानों के संचित विस्फोट के रूप में देखा जाता है। इस महान विद्रोह को सैनिक विद्रोह के रूप में व्याख्यायित करना भारतीय समाज के विभिन्न वर्गों द्वारा इस विद्रोह में दी गई सहभागिता के जटिल मुद्दे का सरलीकरण करना है। अंग्रेजों द्वारा अधिकाधिक भूमि-कर वसूलने की प्रक्रिया में पारंपरिक भू-स्वामी वर्ग ने अपनी शक्तियाँ और विशेषाधिकार खो दिए तथा किसान करों के अधिकाधिक बोझ से दब गए। ब्रिटिश वस्तुओं के प्रसार ने कारीगरों और शिल्पकारों के सामने गंभीर कठिनाइयाँ पैदा कर दीं अतः सैनिकों द्वारा उठाये गये विद्रोह के झंडे ने जल्द ही एक नागरिक विद्रोह का रूप ले लिया, जिसे भू-स्वामी, अभिजात वर्ग, किसानों, कारीगरों तथा अन्य का भी समर्थन मिला। ब्रिटिश इस विद्रोह को दबाने में तो सफल हो गए किन्तु इस विद्रोह ने एक ऐसी राष्ट्रीय भावना की शक्तिशाली अभिव्यक्ति के निर्माण में सफलता प्राप्त की, जिसे अभी एक संगठित रूप प्राप्त करना था। भारतीयों में ब्रिटिश विरोधी भावनाएँ इतनी शक्तिशाली थीं कि ऐसे लोग जो कि ब्रिटिश शासन के लाभार्थी थे, उन्होंने भी इसकी दमनकारी नीतियों की आलोचना शुरू कर दी। विद्रोहियों के अनुकरणीय साहस और जीवनोत्सर्ग जल्द ही किंवदंती बन गए तथा इसने देशभक्ति की एक सशक्त भावना को जन्म दिया।

शोषण के विरुद्ध प्रतिरोध की भावना 1857 के बाद भी जारी रही तथा यूरोपीय प्लांटर्स द्वारा नील की उगाही की दमनकारी प्रक्रिया के विरुद्ध नील की खेती करने वाले किसानों का प्रतिरोध 1859-60 में बंगाल प्रांत में एक बड़े विद्रोह के रूप में तब्दील हो गया। दीनबंधु मित्र द्वारा लिखित *नीलदर्पण* निलहों के दमन को चित्रित करता है। किसानों को उनकी इच्छा के विरुद्ध प्लांटर्स के फायदों के लिए नील उगाने पर मजबूर किया गया। चूंकि प्रशासन प्लांटर्स के समर्थन में था अतः किसानों के सामने ज़ोर-ज़बरदस्ती, शारीरिक दण्ड तथा अन्य प्रकार के अत्याचारों के विरुद्ध शिकायत के विकल्प को समाप्त कर दिया गया और विद्रोह के अलावा उनके सामने अन्य कोई विकल्प न रहा। ईस्ट इंडिया कंपनी के कर्मचारी धन की लूट में शामिल थे और यह तर्क दिया जाता है कि यह 1770 में बंगाल में अकाल का कारण था जिसकी वजह से भारी मात्रा में भूख की वजह से लोगों की मौतें हुईं। बलात् खेती, फसलों और पशुओं की ज़ब्ती ने दमन के विरुद्ध आवाज़ उठाने के लिये किसानों को मजबूर कर दिया तथा 19वीं सदी के उत्तरार्ध में बंगाल में भारी मात्रा में किसान विद्रोह हुए। 1873 में किसानों ने पूर्वी बंगाल के पबना जिले में एक कृषक संघ आयोजित किया तथा किसानों को ज़मींदारों को कर न देने के लिए संगठित किया। किसानों के

असंतोष के फलस्वरूप सरकार को जोतदारों के हितों की रक्षा के लिए 1885 में बंगाल जोतदारी अधिनियम लागू करना पड़ा। बंगाल के नवीन बुद्धिजीवी वर्ग, जिसका प्रतिनिधित्व बंकिमचन्द्र चटर्जी, आर.सी. दत्त, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी आदि कर रहे थे, ने जोतदारों का समर्थन किया। 1875 में महाराष्ट्र के पूना, अहमदनगर, शोलापुर, सतारा में साहूकारों के सामाजिक बहिष्कार का आह्वान किया गया तथा बाद में किसानों का यह प्रतिरोध कृषि दंगों में बदल गया। किसानों के प्रतिरोध ने सरकार को दक्कन एग्रीकल्चरिस्ट्स रिलीफ एक्ट, 1879 लागू करने के लिए मजबूर कर दिया जिसमें साहूकारों के विरुद्ध कुछ सुरक्षा दी गई। 19वीं शताब्दी में मालाबार, पंजाब तथा भारत के अन्य भागों में शोषण एवं दमन के विरुद्ध आवाजें उठाने को लोग मजबूर हो गए। किसी संगठित नेतृत्व और स्पष्ट विचारधारा के अभाव में इस दौरान हुए किसान आंदोलनों ने ब्रिटिश सत्ता को सीधी चुनौती तो नहीं दी परंतु उपनिवेशवाद के विरुद्ध जनमत के निर्माण पर इसका प्रभाव निश्चित रूप से पड़ा। भारत का नवीन बुद्धिजीवी वर्ग किसानों की दयनीय दशा से काफी हद तक सहानुभूति रखता था। 19वीं शताब्दी के लेखन में किसानों के प्रति यह चिंता परिलक्षित होती है। विभिन्न लोकप्रिय विद्रोहों ने ब्रिटिश सत्ता के विरुद्ध नयी राजनीतिक चेतना के विकास की ज़मीन तैयार की।

### 5.3 बौद्धिक जागरण

अधिकतर ऊँची जाति के हिन्दुओं से जुड़े कलकत्ता के भारतीय संभ्रांत वर्ग को 1817 में हिन्दू कॉलेज की स्थापना के साथ ही अंग्रेजी भाषा और पाश्चात्य विज्ञान सीखने का मौका मिला। 1835 में फारसी भाषा की जगह अंग्रेजी को अधिकारिक भाषा बना दिया गया और बढ़ते संभ्रांत वर्ग ने ब्रिटिश शासन के तहत अंग्रेजी सीखने को ही शक्ति की चाभी मान लिया। लॉर्ड मैकाले जो भारत में शिक्षा पर अपनी रिपोर्ट के लिये जाने जाते थे, वह पाश्चात्य शिक्षा की श्रेष्ठता के दृढ़ विश्वासी थे और भारतीयों को पाश्चात्य शिक्षा में दक्ष करना चाहते थे, जो शासक की भाषा बोल सकें। इसके बाद 1854 में सर चार्ल्स वुड द्वारा विकसित औपनिवेशिक शासन की शिक्षा नीतियों के ढांचे की प्रसिद्ध रिपोर्ट आई, जिसने 1857 में कलकत्ता, मुंबई और मद्रास में प्रथम तीन भारतीय विश्वविद्यालयों को स्थापित करने की ओर अग्रसर किया। इस नयी औपनिवेशिक शिक्षा ने भारतीयों के एक वर्ग को स्नातक डिग्री प्रदान की जिसकी वजह से वे सरकारी नौकरियों की योग्यता प्राप्त कर सके किन्तु महत्वाकांक्षाओं से भरे इन स्नातकों ने खुद को बहुत जल्द ही सरकार में प्रतिष्ठित प्रशासनिक पदों से दूर पाया। भारतीय अभिजात वर्ग में शक्ति और संसाधनों में हिस्सा पाने की प्रतिस्पर्धा थी। यह तर्क दिया जाता है कि रोजगार के सीमित अवसरों की वजह से पैदा हुई कुंठा ने ब्रिटिश विरोधी भावनाओं को जन्म दिया। यद्यपि इस तर्क से पूरी तरह से सहमत नहीं हुआ जा सकता कि पढ़े-लिखे भारतीयों की कुंठा ने उन्हें राष्ट्रवादी बनाया परंतु 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में ब्रिटिश शासन के प्रति शिक्षित भारतीयों की मनोवृत्ति में परिवर्तन साफ-साफ परिलक्षित होता है। ब्रिटिश शासन के शुरुआती दिनों में शिक्षित भारत औपनिवेशिक शासन के लाभदायी पक्षों के प्रशंसक थे तथा पश्चिम की तरफ नवीन विचारों और वैज्ञानिक शिक्षा हेतु नजरें गड़ाए थे। 19वीं सदी के उत्तरार्ध से जब औपनिवेशिक शासन के शोषक चरित्र का एहसास होने लगा और भारतीय जन समाज के कष्ट बढ़ने लगे तो यह प्रवृत्ति बदलनी शुरु हो गई। नस्लीय दंभ और भारतीयों को समान अधिकार देने से इनकार के फलस्वरूप शिक्षित भारतीय वर्ग उनसे और दूर चला गया और इसने भारतीय राष्ट्र की चेतना के विकास में अपना योगदान दिया। पश्चिम के उदारवादी लोकतांत्रिक और समतावादी विचारों ने शिक्षित भारतीय वर्ग की आँखें खोल दीं। वे ब्रिटिश प्रभुत्व के आलोचक बन गए और इसके प्रभाव से वे भारतीय सभ्यता के आत्मसातीकरण की अनोखी

शक्ति की तरफ मुड़कर देखने लगे। 1860 के बाद देशज भाषाओं के साहित्यिक उत्पादन में उल्लेखनीय बढ़ोतरी हुई। इस काल के दौरान देशज भाषाओं में पैम्फलेट्स और उपन्यासों के लेखन द्वारा भारत के स्वर्णिम अतीत के पुनराविष्कार में रूचि जगी, विशेषतः मुस्लिम आक्रमण के पूर्ववर्ती काल के संबंध में। ब्रिटिश शासन के सर्वसत्तावादी और वैयक्तिक लक्षणों के विरुद्ध भारतीय परंपरा में निहित लोकतांत्रिक और एकतावादी मूल्यों की खोज के प्रयास किये गये। 'बंगाल, मुंबई और मद्रास जैसे महत्वपूर्ण सूबों में भारतीयों ने विद्रोह में भाग नहीं लिया था तथापि शिक्षा, प्रेस, यूरोपीय नस्लवाद और आर्थिक दमन एक नये प्रकार की राजनीतिक चेतना निर्मित कर रहे थे। 1857 के विद्रोह तथा 1859-60 में नील की खेती करने वाले किसानों की उठापटक ने बंगाल में इस जागरण में अपना योगदान दिया' (जॉन, आर. मैकलैन, दि पॉलिटिकल अवेकनिंग इन इंडिया, 1970, पृ0-30)। देशज भाषाओं का प्रेस भी अत्यंत महत्वपूर्ण ढंग से विकसित हो रहा था तथा ब्रिटिश शासन के विरुद्ध भारतीय जनमत के निर्माण में इसका महत्वपूर्ण योगदान था। इंडिगो कमीशन में 1860 के काफी पहले रेवरेंड जेम्स द्वारा दिये गये निम्नलिखित बयान से जनमत को प्रभावित करने में देशज भाषा के प्रेस के योगदान को समझा जा सकता है।

'स्थानीय जनमत के सच्चे प्रचारक के रूप में देसी भाषा का प्रेस एक महत्वपूर्ण भूमिका अख्तियार करता जा रहा है और यह अफसोसजनक है कि यूरोपीय समुदाय इसके धिक्कार और चेतावनी को बहुत अल्प सम्मान देता है। यह देशज मस्तिष्क की अनुक्रमणिका है। 1853 में मैंने दिल्ली, आगरा और लखनऊ की यात्रा की तथा ऊपरी सूबों में और विशेष रूप से देशज भाषाओं के प्रेस से जुड़े आंकड़ों का परीक्षण किया और मुझे याद है कि मैं इनके गली-कूचों में देशज भाषा के प्रेसों की अवस्थिति की खाक छानता हुआ किस प्रकार की धारणा लेकर बाहर आया। मैंने इस चीज़ को बहुत गहराई से महसूस किया कि देशज भाषा के प्रेस के विलक्षण कार्यकलापों के बारे में दिल्ली तथा अन्य शहरों के यूरोपीय कितना कम जानते हैं, तथा देशज और राजनीतिक विषयों पर छपने वाली किताबों की खरीद से ये देशज मस्तिष्क पर किस प्रकार का प्रभाव डालते हैं, इसके बारे में भी इन्हें बहुत कम जानकारी है। भास्कर और प्रोभाकर जैसे बंगाली समाचारपत्रों का वितरण पंजाब तक फैला हुआ है। बंगाली जहां भी जाते हैं, वे अपनी देसी भाषा में ही पत्र-व्यवहार करते हैं तथा अपनी भाषा के पत्रों को पढ़ते हैं। तीन वर्ष पहले जब मैं बनारस में था तो मैंने ऐसे मोहल्ले को देखा, जिसे बंगाली टोला कहते हैं, यह बांग्ला जनसमुदाय से भरा हुआ है, ये लोग बंगाली भाषा का ही प्रयोग करते हैं। वहां पर दो बंगाली समाचारपत्र छपते हैं। इन बंगाली समाचारपत्रों ने मुफसिल (ग्रामीण) संवाददाता रखे हुए हैं, जो जिले भर के समाचार देते हैं। प्रत्येक बंगाली समाचार पत्र से अंग्रेजी समाचार पत्र का एक अनुवादक जुड़ा हुआ है, अतः यहां का देशज मस्तिष्क यूरोप और भारत दोनों में होने वाली राजनीतिक आंदोलनों से कमोबेश परिचित है।...

'न्यायालयों के एजेंट (अमला), राज्य की पुलिस तथा मजिस्ट्रेट का चरित्र इन समाचारपत्रों में आलोचना के नियमित विषय हैं। मुझे 16 साल पहले भास्कर में पढ़ी हुई शक्तिशाली लेखों की वह श्रृंखला आज भी याद है, जिसमें किस प्रकार तीक्ष्ण वाक्चातुर्य से न्यायालयों के दुरुपयोग की पोल खोली गई थी..... मैंने गणना की कि यद्यपि ग्रामीण जनपदों (मुफसिल) में इन देशज समाचार पत्रों के वितरण की संख्या सीमित है, तब भी संभवतः प्रत्येक समाचार पत्र पांच से दस नागरिकों द्वारा पढ़ा जाता है और इससे मिलने वाली सूचनाएँ मौखिक रूप से काफी बड़े समुदाय तक पहुंचती हैं..... हिन्दुओं में यह व्यवहार है कि रात में एक व्यक्ति जिसे कथक कहते हैं, और जो काफी पढ़ा-लिखा होता है और जिसमें मौखिक सम्प्रेषण की क्षमता होती है, वह ढेर सारे लोगों के बीच अभिभाषण करता है। मैं एक ऐसी सभा में उपस्थित था, जिसमें तीन सौ पुरुष और पर्दे के पीछे स्थित सौ



से अधिक महिलाएँ लगभग डेढ़ घंटे तक कथक द्वारा बंगाली में किये गये वाचन को सुनते रहे तथा उस समय लोग इतने ध्यानमग्न थे कि एक सिक्के के गिरने की ध्वनि भी सुनी जा सकती थी।

‘इन सभाओं में गाये जाने वाले लोकप्रिय बंगाली गीत सिर्फ प्रेम तथा धर्म तक ही सीमित नहीं होते थे, कभी-कभार ये राजनीति को भी स्पर्श करते हैं। उदाहरण के लिए, जब इंडिगो प्लांटर्स की मानवीय मजिस्ट्रेटों के रूप में नियुक्ति ने स्थानीय निवासियों में आक्रोश की भावना को बलवती किया, खासकर रैयतों के बीच।’ (जॉन, आर. मैकलेन, दि पॉलिटिकल अवेकनिंग इन इंडिया, 1970, पृ0-32-36 से उद्धृत)।

उपर्युक्त पाठ को पढ़ने से, सबसे महत्वपूर्ण बात यह निकलती है कि नील के किसानों की दयनीय दशा के बारे में जागरूकता पैदा करने में देशज प्रेस के महत्व का पता चलता है। गरीब किसानों के प्रति शिक्षित भारतीयों की चिंता तथा ब्रिटिश शासन की उनकी आलोचना ने ब्रिटिश शासन के विरुद्ध जनमत निर्माण करने में सहायता की। अधिक महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि मौखिक परंपरा ने आम जनमानस में ब्रिटिश शासन के शोषणकारी चरित्र के बारे में जागरूकता फैलाने में मदद की। लोकगीतों और लोकनाट्यों का प्रयोग ब्रिटिश शासन के गलत कार्यों को अनावृत्त करने के लिए किया गया। आगे चलकर कई प्रकार के राजनीतिक संगठनों के उदय से भारतीयों में राजनैतिक चेतना का अरूणोदय स्पष्ट हो गया।

#### 5.4 प्रांतीय राजनीतिक संगठन

ब्रिटिश सरकार के सामने भारतीयों की मांगों को रखने के उद्देश्य से बने राजनीतिक संगठनों की स्थापना से भारत में एक नयी राजनीतिक चेतना की शुरुआत हुई। नव विकसित बुद्धिजीवी वर्ग ने इन संगठनों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। शुरुआती दौर में बुद्धिजीवी वर्ग ने ब्रिटिश शासन के जारी रहने की वैधता पर सवाल नहीं उठाया, परन्तु 1870 के दशक तक ब्रिटिश शासन द्वारा पैदा किये कई दुर्भिक्षों की वजह से ब्रिटिश सरकार में उनका विश्वास हिल गया। ब्रिटिश शासन द्वारा भारत के आर्थिक शोषण की दादाभाई नौरोजी और रमेश चन्द्र दत्त ने कड़ी आलोचना की। यह तर्क दिया जाता है कि जब 1853 में अंग्रेजी ईस्ट इंडिया कंपनी का चार्टर समाप्त होने जा रहा था तथा चार्टर के नवीनीकरण के पहले जब ब्रिटिश अधिकारी भारत की स्थितियों की समीक्षा कर रहे थे, उस समय शिक्षित भारतीयों ने इस अवसर का लाभ उठाकर अपनी मांगों को आगे बढ़ाने के लिये प्रांतीय संघों की स्थापना की। कलकत्ता में 1851 में ब्रिटिश इंडियन एसोसिएशन की स्थापना की गयी। बंगाल, बिहार और उड़ीसा के ज़मींदारों द्वारा स्थापित यह संगठन राजनीतिक कारणों के लिये लोगों को एकत्र करने के उद्देश्य से स्थापित आरंभिक लोक संगठन था। ब्रिटिश इंडियन एसोसिएशन की स्थापना से पहले कलकत्ता में लैंडहोल्डर्स सोसायटी और बंगाल ब्रिटिश इंडिया सोसायटी जैसे संगठन थे। लैंडहोल्डर्स सोसायटी ज़मींदारों के हितों की रक्षा हेतु सक्रिय था, जबकि बंगाल ब्रिटिश इंडिया सोसायटी अपने उद्देश्यों में ज्यादा विस्तृत था और इसका ध्यान किसानों के अधिकारों पर भी था। भू-स्वामी वर्ग तथा बुद्धिजीवी वर्ग से आये सदस्यों से युक्त ब्रिटिश इंडियन एसोसिएशन ने लंदन और स्थानीय प्राधिकरणों में दायर याचिकाएँ, जो कि भारतीयों के लिये सार्वजनिक पदों में ज्यादा हिस्सा देने के लिये और भारतीयों के हितों की रक्षा के लिए थीं, के जरिये ब्रिटिश शासकों का ध्यान आकर्षित किया। ब्रिटिश पार्लियामेंट में भारतीयों के हितों की रक्षा करने के लिये अपील करने के उद्देश्य हेतु मुंबई में बांबे एसोसिएशन (1852) और चेन्नई में मद्रास नेटिव एसोसिएशन (1852) स्थापित किये गये। ‘परिवार, जाति, धर्म और क्षेत्रीयता के

बंधनों का अतिक्रमण करते हुए..... ये एसोसिएशनस उपमहाद्वीप में सामाजिक और राजनीतिक क्रांति का पहला हस्ताक्षर थे।' (अनील सील, दि इमर्जेन्स ऑफ इंडियन नेशनलिज्म, पृ0-202)।

इन प्रांतीय संगठनों द्वारा बार-बार प्रतिनिधित्व किये जाने के बावजूद भी भारतीयों की मुख्य समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न नहीं किया गया और भारतीय सरकारी पदों में भारतीयों के ज्यादा प्रतिनिधित्व के लिए लगातार मांग करते रहे। 1857 के महान विद्रोह एवं कलकत्ता, बांबे तथा मद्रास में विश्वविद्यालयों की स्थापना के बाद भारतीयों की राजनीतिक चेतना ने एक नया मोड़ लिया। ब्रिटिश इंडियन एसोसिएशन के सीमित दृष्टिकोण के प्रति आलोचनात्मक रुख रखते हुए बंगाल के शिक्षित युवाओं ने आगे आकर इंडियन लीग की स्थापना की। लीग जनसमूह को अपने साथ जोड़कर और राजनीतिक शिक्षा को प्रोत्साहित करके अपने आधार को विस्तृत करना चाहती थी। राष्ट्रीय एकता का विकास इसका एजेंडा था। किन्तु ज्यादा प्रसिद्ध और सक्रिय राजनीतिक संगठन इंडियन एसोसिएशन था, जिसकी स्थापना प्रख्यात वकील सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने 1876 में की थी। इंडियन एसोसिएशन ने भारतीय लोकसेवाओं में भारतीय नागरिकों को शामिल करने की मांग की तथा भारतीयों के हितों को प्रभावित करने वाले विभिन्न मुद्दों के विरुद्ध जनमत के निर्माण का प्रयास किया। एसोसिएशन ने नगरपालिकाओं में, जिनके सदस्यों की नियुक्ति सरकार द्वारा की जाती थी, में चुने हुए भारतीय प्रतिनिधियों को शामिल करने की मांग रखी तथा इसने वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट, 1878 के विरुद्ध जनविरोध का भी आयोजन किया। मुंबई में 1885 में फिरोजशाह मेहता, बदरुद्दीन तैयब जी तथा काशीनाथ तैलंग द्वारा बांबे प्रेसीडेंसी एसोसिएशन की स्थापना हुई। इस एसोसिएशन ने स्थानीय शिकायतों को उठाया और प्रतिनिधित्व के जरिये ब्रिटिश संसद को इन मुद्दों पर ध्यान देने के लिये बाध्य किया। पूना में 1870 में नवीन बुद्धिजीवी वर्ग द्वारा स्थापित सार्वजनिक सभा राजनीतिक चिंताओं को व्यक्त करने का मंच बनी। एम. जी. रानाडे इसके मार्गदर्शक शक्ति थे। इसने संसद में भारतीय प्रतिनिधित्व की मांग उठाई तथा 1878 के वर्नाक्यूलर एक्ट के विरुद्ध खुलेआम प्रदर्शन किये। सभा किसानों की समस्याओं के लिये भी चिंतित थी और इनसे संबंधित विवादों के निपटारे में भी इसने हस्तक्षेप किया। मद्रास में पहले मद्रास नेटिव एसोसिएशन (1852) तथा पी.आनंदा चालू एवं अन्यो ने मिलकर मद्रास महाजन सभा (1884) की स्थापना स्थानीय लोगों की समस्याओं की तरफ सरकार का ध्यान आकर्षित करने के लिये की। ये सारे प्रांतीय संघ, जो 1850 के बाद निर्मित हुए, सीमित सामाजिक आधार और उद्देश्यों के होते हुए भी राजनीतिक जागरण की प्रक्रिया की शुरुआत का आधार बने तथा इन्होंने राजनीतिक गतिविधियों को गति प्रदान की। इन संघों ने शक्तिशाली ब्रिटिश शासकों के समक्ष राजनीतिक विरोध आयोजित करने का आत्मविश्वास पैदा किया।

## 5.5 ब्रिटिश प्रशासनिक कार्रवाई

1857 का महान विद्रोह, किसानों और जनजातियों द्वारा उनके दमन के विरुद्ध उठे लोकप्रिय विद्रोह, ब्रिटिश शासन के विरुद्ध भारतीयों में नयी राजनीतिक चेतना का विकास, इन सबने ब्रिटिश शासकों को ब्रिटिश विरोधी मत को रोकने के लिये प्रशासनिक तंत्र के बारे में सोचने हेतु मजबूर कर दिया। अंग्रेजी और अन्य देशज भाषाओं के भारतीय प्रेस ने 1860 से 1885 के कालखंड में भारतीयों में राजनीतिक चेतना जागृत करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। बंगाल में *बंगाली* और *अमृतबाजार* पत्रिका, बम्बई में *केसरी*, *मराठा*, *इन्दुप्रकाश* तथा *वाँयस ऑफ इंडिया*, मद्रास में *हिन्दू*, पंजाब में *ट्रिब्यून* तथा अन्य समाचार पत्रों ने महत्वपूर्ण मुद्दों को उठाकर लोगों को शिक्षित करने की कोशिशें की तथा सामान्य जनमानस ने

राजनीतिक अधिकारों के बारे में विचारों का प्रसार किया। नस्लीय भेदभाव, भारतीयों के साथ अन्याय, आर्थिक शोषण आदि मुद्दों को इस तर्क को मजबूत करने के लिये प्रमुखता दी गई कि ब्रिटिश शासन के परिणामस्वरूप भारतीय आर्थिक और बौद्धिक रूप से ब्रिटेन के मातहत हो गए हैं। भारतीय प्रेस द्वारा इस ब्रिटिश विरोधी प्रचार-प्रसार को रोकने के लिए तत्कालीन वायसराय लॉर्ड लिटन ने 1878 में वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट लागू किया। इसके बाद आर्म्स एक्ट लागू किया गया, जिसके अनुसार भारतीयों को ज्वलनशील हथियारों को रखने के लिये लाइसेंस की ज़रूरत अनिवार्य कर दी गई किन्तु यूरोपियों को इससे मुक्त रखा गया। इस प्रकार के खुलेआम भेदभाव की वजह से ब्रिटिशों की उत्पीड़न की नीति के विरुद्ध जनमत क्रोध हो उठा। लॉर्ड लिटन के बाद आए वायसराय लॉर्ड रिपन ने वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट को निरस्त करके शिक्षित भारतीयों को तुष्ट करने की कोशिश की परन्तु आर्म्स एक्ट में कोई परिवर्तन नहीं किया। ज्यादा महत्वपूर्ण इलबर्ट बिल था, जो एक भारतीय मजिस्ट्रेट को किसी यूरोपियन का न्याय करने की अनुमति देता था। इस बिल के विरुद्ध भारत में रह रहे अंग्रेजी जनमानस में भयंकर विद्रोह हुआ, जिसका मकसद नस्लीय था। यूरोपियनों को तुष्ट करने के लिए इस बिल में संशोधन कर दिया गया किन्तु इन सबसे भारत में ब्रिटिश शासन का असली चरित्र अनावृत्त हो गया। 'अंग्रेजी भावना की शक्ति तथा "श्वेत विद्रोह" के डर ने 1884 में सरकार को समझौता करने के लिये मजबूर कर दिया तथा यूरोपियनों पर ज्यूरी द्वारा मुकदमा चलाने की अनुमति दे दी, इस ज्यूरी के कम-से-कम आधे सदस्य यूरोपियन होने अनिवार्य थे। इलबर्ट बिल विवाद में राष्ट्रवादियों ने भोंडा नस्लवाद देखा जो कि सामान्यतया संस्थाओं की निर्वैयक्तिकता तथा निजी क्लबों की दीवारों के पीछे छिपा रहता था।' (जॉन आर. मैकलेन, इंडियन नेशनलिज्म एंड दि अर्ली कांग्रेस, पृ0-38) भारत में सुधारों के प्रति ब्रिटिश द्वेष भाव को भारतीय अब महसूस कर सकते थे। रिपन ने भारतीय लोकसेवा की परीक्षा में भारतीयों की आयु सीमा को बढ़ाने की भी कोशिश की किन्तु वायसराय के अधिकांश काउंसिलरों ने लोकसेवा में भारतीयों की संख्या में वृद्धि करने का विरोध किया। लॉर्ड रिपन ने भारतीयों में आशा का संचार किया परन्तु वह भारतीयों की अपेक्षाओं को पूर्ण करने की क्षमता से युक्त महत्वपूर्ण परिवर्तनों को करने में विफल रहा। लॉर्ड रिपन के बाद आने वाले वायसराय लॉर्ड डफरिन ने भारतीयों की आकांक्षाओं को पूर्ण करने की तरफ नये कदम उठाने में अत्यंत सतर्क दृष्टिकोण अपनाया। वे लोकसेवा में भारतीयों के लिये और रोजगार के अवसर पैदा करने के प्रति भी दुविधा में थे। रोजगार के सिकुड़ते हुए अवसरों और सरकार की दमनकारी नीतियों के योग ने भारतीयों को और अधिक राजनीतिक लामबंदी की तरफ धकेला। 1870 के बाद भारतीयों की राजनीतिक सोच को एक तत्कालीन रिपोर्ट में व्यक्त किया गया :

'पिछले बीस वर्षों में... राष्ट्रवाद की भावना बढ़ी है, जिसका पहले कोई अस्तित्व न था... भारतीय प्रेस हमारे शासन के इतिहास में पहली बार विदेशी शासन के विरुद्ध भारतीय जनमानस को अपील कर रही है। बीस साल पहले.... हमने स्थानीय राष्ट्रीयताओं और विशिष्ट प्रजातियों के बारे में जाना था। मराठियों के रोष में बंगाली शामिल नहीं थे.... अब. .... हमने वह सब कुछ बदल दिया है और अब हम अलग-अलग सूबों की जनसंख्या के सामने खुद को खड़ा नहीं पाते, अपितु खुद के द्वारा निर्मित और प्रोत्साहित किये गये 20 करोड़ ऐसे लोगों के सामने पाते हैं जो सहानुभूति एवं समागम में संगठित हैं। यह ..... आज का सबसे बड़ा राजनीतिक तथ्य दिखता है।' (अनिल सील, दि इमर्जेन्स ऑफ इंडियन नेशनलिज्म, पृ. - 146-147 से उद्धृत)।

यह बिन्दु ध्यान देने योग्य है कि 1870 से 1880 के बीच वायसरायों द्वारा भारतीय साम्राज्य पर ब्रिटिश नियंत्रण को मजबूत करने के लिये उठाये गये उपायों ने वास्तव में भारतीयों की राजनीतिक आकांक्षाओं की आग को और हवा दी।

## 5.6 भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना

शिक्षित भारतीयों द्वारा सूबों के स्तर पर जनमत को संगठित करने के उद्देश्य से संगठनों के निर्माण के प्रयासों का उत्कर्ष शिक्षित भारतीयों के लिये एक राष्ट्रीय राजनीतिक संगठन की स्थापना के रूप में सामने आया। एक अंग्रेज एलेन ऑक्टोवियो ह्यूम, जो कि भारतीय लोकसेवा के एक अवकाशप्राप्त सदस्य थे, प्रांतीय सूबों में सक्रिय शिक्षित भारतीयों को एक साथ लाकर एक राष्ट्रीय राजनीतिक संगठन निर्मित करने में मुख्य प्रेरणाश्रोत थे। ह्यूम चाहते थे कि प्रशिक्षित भारतीयों की एक ऐसी अखिल भारतीय प्रतिनिधि संस्था हो जो कि उन्हें प्रभावित करने वाले मुद्दों की चिंताओं को स्वर दे सके। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने भी अपने इंडिया एसोसिएशन का एक अखिल भारतीय सम्मेलन करके उसके पाट को चौड़ा करने की कोशिश की थी। परंतु ह्यूम द्वारा की गई पहल ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के निर्माण को जन्म दिया और बाद में सुरेन्द्रनाथ भी राष्ट्रीय कांग्रेस में शामिल हो गये। दिसंबर, 1885 में कलकत्ता, मुंबई, पूना और मद्रास जैसे बड़े शहरों में रहने वाले शिक्षित वर्ग के 72 प्रतिनिधि एक प्रख्यात बंगाली वकील डब्ल्यू.सी. बनर्जी की अध्यक्षता में मुंबई में मिले। अपनी स्थापना के बाद प्रत्येक वर्ष कांग्रेस ने अलग-अलग शहरों में राष्ट्रीय सम्मेलन किये और उन मुद्दों पर चर्चा की जो शिक्षित भारतीय अभिजात वर्ग के हित के थे। यद्यपि ह्यूम ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना में एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा की तथापि, 1880 की शुरुआत में एक राष्ट्रीय प्रतिनिधि संस्था के निर्माण की चर्चा भारत के शिक्षित हल्के में हो रही थी। शुरुआती दिनों में कांग्रेस की प्रमुख मांगें थीं केंद्रीय और प्रांतीय विधायी संघों में सुधार और उनमें भारतीयों को अधिक शक्तियां दिया जाना, उपरी दर्जे के प्रशासन का भारतीयकरण, न्यायिक सुधार, युद्ध पर कम-से-कम खर्च किया जाना, किन्तु उनकी किसी भी माँग में व्यापक जनसमर्थन से जुड़ाव नहीं था। प्रत्यक्ष राजनीतिक आंदोलन इनके एजेंडे में नहीं था अपितु, इनका ध्यान याचिकाएँ, भाषण और आलेख लिखने में था ताकि अंग्रेजी उदारवादी धड़े को भारत में सुधारों के लिये प्रभावित किया जा सके। दादाभाई के निम्नलिखित शब्दों से कांग्रेस के लक्ष्यों के बारे में समझा जा सकता है 'हम सतर्क और रुढ़िवादी रास्ते पर बढ़ रहे हैं, ताकि हम वर्तमान संस्थाओं के विकास को उस परिवर्तित स्तर तक ले जा सकें जिन्हें ब्रिटिश शासन और ब्रिटिश शिक्षा ने भारत में लाया है।' भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के पहले अध्यक्ष के रूप में डब्ल्यू.सी. बनर्जी ने कहा कि कांग्रेस का लक्ष्य 'हमारे देश के प्रति प्रेम रखने वाले प्रत्येक व्यक्ति के अंदर से प्रत्यक्ष मैत्रीपूर्ण वैयक्तिक समागम के जरिये समस्त संभव नस्लीय, पंथीय और प्रांतीय पूर्वाग्रहों का उन्मूलन है..... तथा समस्त साम्राज्य में देश के हित में काम करने वाले लोगों के बीच आपसी भाईचारे और दोस्ती को मजबूत बनाना है।' (बिपिन चन्द्र एण्ड अदर्स, (सं0), इंडियाज़ स्ट्रगल फॉर इंडिपेंडेंस, पृ0-77 पर उद्धृत) 1850 से चलने वाले राजनीतिक जागरण की प्रक्रिया के संदर्भ में कांग्रेस के आरंभिक नेता प्राथमिक रूप से राष्ट्रीय स्तर पर त्वरित कट्टरपंथी कार्रवाइयों के लिए नारा देने के बजाय लोकतांत्रिक आंदोलन की बुनियाद को तैयार करने में व्यस्त थे। किन्तु भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना ने निश्चित रूप से भारतीयों को ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध उनके संघर्ष को आगे बढ़ाने हेतु एक मंच दे दिया।

## 5.7 इतिहासकारों की व्याख्याएँ

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना को सामान्यतः भारत में संगठित राष्ट्रवाद की पहली अभिव्यक्ति और राष्ट्रीय राजनीतिक समुदाय के आरंभ के रूप में माना गया। इतिहासकारों ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना और भारतीय राष्ट्रवाद की स्थापना को विभिन्न दृष्टिकोणों से विश्लेषित किया है। इस संभाग में हम आपको इतिहासकारों द्वारा किये गये

कुछ महत्वपूर्ण शोधों से परिचित करायेंगे। अनिल सील तर्क करते हैं कि विभिन्न प्रांतों में प्रगति के स्तर में भिन्नता और अलग-अलग सामाजिक पृष्ठभूमि से आये कांग्रेस के सदस्यों के हितों में भिन्नता के कारण कांग्रेस के लिये एकसमान लक्ष्य और राष्ट्रीय उद्देश्य रखना मुश्किल था। वह भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना में ह्यूम द्वारा निभाई गई भूमिका पर टिप्पणी करते हैं :

‘1880 के दशक की शुरुआत में भारत की प्रत्येक प्रेसीडेंसी में एक राष्ट्रीय प्रतिनिधि संस्था की योजना पर चर्चा हो रही थी। और इसको मूर्त रूप देने के लिये कई प्रयत्न भी किये जा चुके थे। 1885 में कांग्रेस की स्थापना भी इन कई प्रयत्नों में से एक थी तथा इसका संगठन बंबई, पूना, मद्रास और कलकत्ता के कई व्यक्तियों का ऋणी था। यह ह्यूम के अकेले का कार्य नहीं था, तथापि इसमें उनका हाथ अवश्य था। रिपन के वायसरायकालीन दौर में ह्यूम ने स्वयं को भारतीय मत के सहसंपादक तथा भारतीय क्रियाकलापों के एक एजेंट के रूप में अत्यंत ही उपयोगी बना डाला था, मानों वे कांग्रेस के संयोजक के रूप में अत्यंत ही सटीक व्यक्ति थे। यह स्पष्ट था कि बंबई में प्रतिनिधियों के जुटने के पहले से ही अखिल भारतीय स्तर पर क्रियाकलापों को बढ़ाने की प्रवृत्ति विद्यमान थी। 1880 के दशक की शुरुआत में एक संयुक्त संगठन बनाने के लगातार प्रयासों से यह परिलक्षित होता है कि यह प्रवृत्ति लगातार मजबूत हो रही थी तथा इन विभिन्न क्रियाकलापों में से किसी भी एक या दूसरे की सफलता की गुंजाइश बढ़ती जा रही थी। कांग्रेस एक प्रकार का प्रयोग थी जो संयोगवश जीवित रह गई। (दि इमर्जेन्स ऑफ इंडियन नेशनलिज़्म, पृ0 272, 227)।

सी.ए. बेली का तर्क है कि ‘कई स्थानीय नेताओं के लिए कांग्रेस मुख्य रूप से एक द्वितीयक संस्था थी और उसके साथ इनका संबंध क्षेत्रीय और अखिल भारतीय संस्थाओं के ढांचे के अंतर्गत निचले स्तर की राजनीति से जुड़ी हुई स्थानीय और संभागीय लक्ष्यों की सीमित आवश्यकता से उत्पन्न था।’ (सी.ए. बेली, दि लोकल रूट्स ऑफ इंडियन पॉलिटिक्स, इलाहाबाद, 1880-1920, पृ0-4)। बेली का तर्क राष्ट्रीय राजनीति की उत्पत्ति में क्षेत्रीय विविधता और स्थानीय रुचियों की तरफ ध्यान खींचता है तथा भारतीय बुद्धिजीवी वर्ग की वैचारिक मीमांसा को कम आंकता है।

जॉन आर. मैकलेन, सील और बेली के तर्कों को स्वीकार नहीं करते हैं, जो कि कांग्रेस के एक लक्ष्य और विचार को कम आंकते हैं और वैयक्तिक तथा स्थानीय रुचियों पर ज्यादा जोर देते हैं। मैकलेन लिखते हैं :

‘कांग्रेस के भारतीय संस्थापक राष्ट्रीय दृष्टिकोण की महानता से प्रभावित थे जो कि व्यक्ति, परिवार और जाति के महत्व को एक भारतीय राष्ट्र के महत्व के सामने गौण कर देता था। कांग्रेस का यह दृष्टिकोण था कि भारतीयों की मूलभूत आर्थिक और राजनीतिक रुचियां साझी हैं और ये रुचियां ब्रिटेन की रुचियों के साथ संघर्ष में हैं तथा समस्त भारतीयों के सामूहिक कल्याण को तभी उन्नत किया जा सकता है जब भारतीयों और उनके विदेशी शासकों के बीच के संबंधों की पुनर्रचना की जाए। कांग्रेसी नेताओं की पहली पीढ़ी इस लक्ष्य को ठोस राजनीतिक रणनीति में परिवर्तित करने के रास्ते को टटोल रही थी। कभी-कभी कांग्रेस के नेता अपने व्यक्तिगत पेशे की वजह से इस कार्य से भटक जाते थे। तथापि, यह लक्ष्य प्रबल था, ईमानदारी से आयोजित था और व्यापक रूप से साझा था।’ (जॉन, आर. मैकलेन, इंडियन नेशनलिज़्म एंड दि अर्ली कांग्रेस, पृ0 -7-8)

बिपिनचंद्र और दूसरे लेखक अपनी पुस्तक *भारत का स्वतंत्रता संघर्ष* में तर्क रखते हैं कि प्रारंभ से ही भारत के राष्ट्रीय नेता भारतीय जनता और ब्रिटिश उपनिवेशवाद के बीच हितों

के मूलभूत टकराव को समझ गये थे। कांग्रेस के तहत राष्ट्रीय आंदोलन ने 'एक स्पष्ट उपनिवेश विरोधी विचारधारा' विकसित की। उपनिवेशवाद के विरुद्ध एक साझा संघर्ष ने राष्ट्रवाद की भावना को उन्नत बनाया और बुद्धिजीवी वर्ग ने 'जनता की अंतर्निहित, स्वाभाविक, आरंभ होती हुई उपनिवेश-विरोधी चेतना' को जगाया। कांग्रेस की स्थापना 'राजनीतिक जागरण की प्रक्रिया की पराकाष्ठा' के रूप में देखी जाती है 'जिसकी शुरुआत 1860 एवं 1870 में हुई और आगे चलकर 1870 के अवसान तथा 1880 के प्रारंभ में एक लंबी छल्लांग लगाई।'

अपने वैचारिक अभिविन्यासों के आधार पर इतिहासकारों ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना और भारतीय राष्ट्रवाद के प्रारंभ को विश्लेषित किया। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के झंडे तले उपनिवेशवाद से लड़ने के लिये साझे राजनीतिक मंच पर क्षेत्रीय स्तर पर बढ़ती राजनीतिक चेतना के उदय को राष्ट्रीय स्तर पर संगठित राजनीतिक आंदोलन के प्रारंभ के रूप में देखा जा सकता है। कांग्रेस ने भारत में ब्रिटिश शासन की विभिन्न समालोचनाओं के लिये एक मंच प्रदान किया। इसके प्रारंभिक वर्षों में शिक्षित मध्य वर्ग तक इसकी सदस्यता सीमित होने पर भी दूसरों द्वारा इसकी उपस्थिति महसूस की गई, विशेषतः इसका आर्थिक और राजनीतिक एजेंडा।

---

## 5.8 सारांश

---

ब्रिटिश शासन ने भारत में एक नवीन राजनीतिक चेतना, राष्ट्रीयता के विचार और राजनीतिक अधिकारों को जन्म दिया। ब्रिटिश शासन के तहत विभिन्न प्रकार के शोषण का सामना करने और एंग्लो इंडियन्स के प्रत्यक्ष नस्लवादी रवैये के कारण भारतीयों ने विदेशी शासन के विरुद्ध आवाज़ उठाने की आवश्यकता को महसूस किया। पाश्चात्य शिक्षा के लाभार्थी भारतीय बुद्धिजीवी वर्ग ने ब्रिटिश शासन के शोषणकारी चरित्र को बेनकाब करने में और जनमत को एक छतरी के नीचे लामबंद करने में मुख्य भूमिका निभाई। आपने देखा कि किस प्रकार विभिन्न प्रांतों में लोगों ने उनके हितों को प्रभावित करने वाले मुद्दों पर विचार-विमर्श करने के लिए एसोसिएशन बनाये और इसी राजनीतिक चेतना ने अंततः भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना के लिये रास्ता बनाया। प्रारंभिक कांग्रेसी नेताओं ने ब्रिटिश शासन के तहत भारत में हो रहे रूपांतरण को भांप लिया था तथा उन्होंने ब्रिटिश शासन के प्रभावों से उत्पन्न स्थितियों का फायदा उठाते हुए एक अखिल भारतीय संगठित जनमत का निर्माण करने का प्रयास किया। इतिहासकारों ने भारतीय राष्ट्रवाद की बुनियादों को विभिन्न दृष्टिकोणों से विश्लेषित किया है परन्तु तथ्य यह है कि इसके संकीर्ण सामाजिक आधार तथा सीमित दृष्टिकोण के बावजूद भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना ने राष्ट्रीयता के लिये नवीन लोकतांत्रिक राजनीतिक आंदोलन की यात्रा के पदचिन्ह छोड़े।

---

## 5.9 अभ्यास

---

- 1) भारतीय राष्ट्रवाद के उदय में बुद्धिजीवी वर्ग की भूमिका पर चर्चा कीजिये।
- 2) क्या ब्रिटिश प्रशासनिक कार्रवाइयाँ भारत में राष्ट्रवाद के उदय के मूल कारक माने जा सकते हैं?
- 3) भारत में राष्ट्रवाद पर विभिन्न इतिहासकारों के विचारों पर चर्चा करें।

---

## इकाई 6 आर्थिक राष्ट्रवाद\*

---

### संरचना

- 6.1 प्रस्तावना
- 6.2 आर्थिक राष्ट्रवाद क्या है?
  - 6.2.1 आर्थिक राष्ट्रवाद के विचार की व्युत्पत्ति
  - 6.2.2 औपनिवेशिक संदर्भ में आर्थिक राष्ट्रवाद
- 6.3 भारत में आर्थिक राष्ट्रवाद
  - 6.3.1 प्रारंभिक विचार
  - 6.3.2 औपनिवेशिक शासन की आर्थिक समालोचना
    - 6.3.2.1 धन की निकासी
    - 6.3.2.2 भारतीय जनता की गरीबी
    - 6.3.2.3 उद्योगों का अल्पविकास
    - 6.3.2.4 लोक वित्त
    - 6.3.2.5 कृषि
    - 6.3.2.6 विदेशी व्यापार
  - 6.3.3 औपनिवेशिक भारत में आर्थिक राष्ट्रवाद का उभार
- 6.4 सारांश
- 6.5 अभ्यास

---

### 6.1 प्रस्तावना

---

आर्थिक राष्ट्रवाद भारतीय राष्ट्रवाद का एक महत्वपूर्ण पक्ष था। खासकर 19वीं शताब्दी के अवसान और 20वीं शताब्दी के आरंभिक दशकों में इसकी जड़ें औपनिवेशिक शासन के व्यापक आर्थिक समालोचना में थीं, जिसकी शुरुआत आरंभिक राष्ट्रवादी नेताओं ने अपने प्रकाशनों, भाषणों, और जन-अभियानों में की थी। उनके लेखन और भाषणों ने एक ऐसा ढांचा तैयार किया जिसके अंतर्गत भारत की एकता तथा ब्रिटिश शासन का विदेशी चरित दोनों समा सकते थे। यह एक ऐसा क्षेत्र था जिसमें 'उदारवादी' और 'चरमपंथी' नेतृत्व ने विरोध आत्मक प्रवचनों को निर्मित किया और आकार दिया, जो कि काफी टिकाऊ साबित हुआ।

---

### 6.2 आर्थिक राष्ट्रवाद क्या है?

---

आर्थिक राष्ट्रवाद, आर्थिक उदारवाद और मार्क्सवाद ये आधुनिक राजनीतिक अर्थव्यवस्था की तीन सर्वाधिक महत्वपूर्ण विचारधाराएँ मानी जाती हैं। पारंपरिक रूप से आर्थिक राष्ट्रवाद को एक ऐसी आर्थिक विचारधारा माना जाता है जो कि अर्थव्यवस्था, श्रम और पूंजी के निर्माण पर घरेलू नियंत्रण पर जोर देती है। इसे भूमंडलीकरण, जो कि सभी राष्ट्रों की परस्पर निर्भरता को प्रदर्शित करता है, के विरुद्ध एक प्रकार की निरंकुशता के रूप में देखा जाता है। इसके लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिये आर्थिक राष्ट्रवादी मुक्त व्यापार को रोकने हेतु कर थोपते हैं ताकि स्वदेशी उद्योगों को प्रोत्साहन दिया जा सके तथा आयात को प्रतिस्थापित किया जा सके।

---

\*इकाई लेखक : प्रो. एस.बी. उपाध्याय

जबकि, इस प्रकार का चरित्रांकन गलत नहीं है, हाल के लेखनों ने इस बात पर जोर दिया है कि आर्थिक राष्ट्रवाद का अधिकाधिक सरोकार किसी विशिष्ट नियत किस्म की आर्थिक नीतियों जैसे कर की बाधाएँ और संरक्षणवाद से न होकर राष्ट्र से ज्यादा है। अतः इस दृष्टिकोण के अनुसार आर्थिक राष्ट्रवाद की विचारधारा को विशिष्ट आर्थिक नीतियों की पुष्टि के बजाय इसकी राष्ट्रवादी अन्तर्वस्तु के आधार पर व्याख्यायित किया जाना चाहिये। इसके अतिरिक्त, राष्ट्र और राष्ट्रवाद को आर्थिक राष्ट्रवाद के अंतर्गत लाने से यह साफ देख पाना संभव है कि आर्थिक राष्ट्रवादी विभिन्न आर्थिक नीतियों को आगे बढ़ा सकते हैं, जिनमें से कुछ आर्थिक विचारों की दूसरी धाराओं से जुड़ी हो सकती हैं।

### 6.2.1 आर्थिक राष्ट्रवाद के विचार की व्युत्पत्ति

फ्रेडरिक लिस्ट (1789–1846) 19वीं सदी के सबसे महत्वपूर्ण आर्थिक राष्ट्रवादी और आर्थिक राष्ट्रवाद की धारणा के पहल करने वाले माने जाते हैं। लिस्ट का 'राष्ट्रीय अर्थशास्त्र' का सिद्धांत एडम स्मिथ (1723–1790) और जीन बापटिस्ट से (1767–1832) के 'व्यक्तिगत अर्थशास्त्र' और 'सार्वभौमिक अर्थशास्त्र' से भिन्नता रखता है। अपनी पुस्तक 'दि नेशनल सिस्टम ऑफ पॉलिटिकल इकॉनामी' (1844) में लिस्ट ने मूलतः व्यक्ति या संपूर्ण मानवता के लाभ हेतु आर्थिक नीतियों का आँकलन करने के लिए आर्थिक उदारवादियों की आलोचना की। उन्होंने उदारवादी विचार के 'मृत भौतिकवाद' की आलोचना की तथा तर्क दिया कि उदारवादियों ने 'व्यक्ति को सिर्फ एक उत्पादक और उपभोक्ता माना, न कि राष्ट्र का सदस्य या राज्य का नागरिक।' लिस्ट के अनुसार इस प्रकार के 'असीम सार्वभौमवाद' ने आर्थिक नीति के उद्देश्य हेतु राष्ट्र के महत्व को प्रमुखता नहीं दी। उन्होंने दावा किया : 'प्रत्येक व्यक्ति और संपूर्ण मानवता के बीच, राष्ट्र खड़ा है।' उन्होंने इस मध्यवर्ती शाखा पर आधारित अपने दृष्टिकोण को सूत्रबद्ध किया : 'मैं राष्ट्रीयता को अपनी व्यवस्था की प्रमुख विशिष्टता के रूप में संकेतित करता हूँ। राष्ट्रवाद की प्रकृति पर, व्यक्तिवाद और संपूर्ण मानवता के मध्यवर्ती रूचि के रूप में, मेरी संपूर्ण संरचना आधारित है।' चूंकि व्यक्ति राष्ट्र के सदस्य हैं, आर्थिक नीतियाँ केवल व्यक्तियों के धन को बढ़ाने का लक्ष्य रखने वाली नहीं होनी चाहिये, अपितु राष्ट्र की संस्कृति और शक्ति के विकास के प्रति उन्मुख होनी चाहिये। इस प्रकार का विकास अंततः संपूर्ण मानवता को समृद्ध करेगा क्योंकि 'मनुष्य जाति का सभ्य होना प्रत्येक राष्ट्र के सभ्य और विकसित होने के माध्यम से ही बोधगम्य और संभव हो सकता है। इस प्रकार, लिस्ट का उद्देश्य था कि शोध को इस दिशा में मोड़ा जाए कि 'एक राष्ट्र विशेष किस प्रकार समृद्धि, सभ्यता और शक्ति प्राप्त कर सकता है।' जिस तंत्र के जरिये इसे प्राप्त किया जा सकता है, वह है देश का औद्योगिक विकास। अतः शैशव उद्योगों को सुरक्षा प्रदान करने के लिए कर की बाधाएँ खड़ी करना, लिस्ट की आर्थिक नीतियों का आधारभूत लक्ष्य है।

लिस्ट द्वारा स्थापित आर्थिक राष्ट्रवाद की इस महत्वपूर्ण प्रवृत्ति के अलावा 19वीं शताब्दी के यूरोप में तीन अन्य ध्यान देने योग्य प्रवृत्तियाँ थीं :

- 1) आर्थिक राष्ट्रवाद की इस धारा ने रूपांतरित हो सकने योग्य मुद्रा की आर्थिक उदारवादी नीतियों की आलोचना की। आर्थिक उदारवादियों का विश्वास था कि इस प्रकार की वित्तीय नीतियाँ व्यापार को बढ़ावा देंगी। अतः, इस उद्देश्य के लिये एकसमान वित्तीय मानक हेतु सभी मुद्राओं के लिये उन्होंने स्वर्णमानक का समर्थन किया। आर्थिक राष्ट्रवादियों ने इसका विरोध किया, उनके एक प्रखर सिद्धांतकार थे थॉमस एटवुड (1783–1859) जो कि एक ब्रिटिश बैंकर और राजनेता थे। एटवुड ने प्रस्ताव रखा कि ब्रिटेन की एक कागजी मुद्रा होनी चाहिये, जो कि स्वर्ण से बंधी न



हो। उन्होंने यह भी तर्क दिया कि सरकार को आर्थिक मंदी के समय धन की आपूर्ति बढ़ानी चाहिये। उन्होंने यह अनुभव किया कि ये नीतियाँ बेरोजगारी को घटाएंगी। मुद्रा संबंधी उनके दृष्टिकोण को अमेरिकन अर्थशास्त्री हेनरी चार्ल्स कैरी (1793–1879) ने दोहराया। उन्होंने अविनिमेय मुद्रा पर जोर दिया जो कि उनके अनुसार धन की आपूर्ति को स्वतंत्र रूप से बढ़ाकर घरेलू आर्थिक वृद्धि को बढ़ावा देगी। इसी प्रकार इजाक बुकानन (1810–1883) जो कि एक कनाडियन व्यवसायी और नेता थे, ने भी अविनिमेय राष्ट्रीय मुद्रा को तरजीह दी, क्योंकि यह लोगों को पूर्ण रोजगार देता है तथा देश के उत्पादक संसाधनों को विकसित करता है (हैलेनर 2002 : 316)।

- 2) 19वीं सदी के आर्थिक राष्ट्रवाद की एक अन्य धारा के अनुसार आत्मनिर्भर आर्थिक व्यवस्था तथा मजबूत हस्तक्षेपकारी राज्य का पक्ष लिया गया। जर्मन दार्शनिक और पत्रकार जोहन गॉटलिब फिख्टे (1762–1814) ने राष्ट्रीय आर्थिक स्वावलंबन का मजबूती से पक्ष लिया। इसके लिए उन्होंने एक हस्तक्षेपकारी राज्य की वकालत की, जो कि जनता के लिए उसकी आर्थिक आवश्यकताओं की प्रत्यक्ष पूर्ति करेगा। 1800 में प्रकाशित एक आर्थिक विनिबंध दि *क्लोज्ड कमर्शियल स्टेट* में उन्होंने एक निरंकुश आर्थिक राष्ट्रवाद तथा एक मजबूत हस्तक्षेपकारी राज्य के पक्ष में तर्क दिया जो कि रोजगार सुनिश्चित करेगा तथा वेतन और मूल्यों को नियंत्रित करेगा। उन्होंने घरेलू मूल्यों पर नियंत्रण के लिए अविनिमेय मुद्रा पर जोर दिया तथा विदेशी व्यापार का निषेध करने की बात की, क्योंकि व्यापार में उतार-चढ़ाव राष्ट्रीय आर्थिक नीतियों को अस्थिर कर सकता था। एक अन्य जर्मन पत्रकार, साहित्यकार और राजनीतिक अर्थशास्त्री एडम हेनरिक मूलर (1779–1829) थे, जिन्होंने उदारवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र तथा मुक्त व्यापार प्रणाली की कड़ी आलोचना की। जबकि फिख्टे के आर्थिक विचार क्रांतिकारी फ्रांस के जैकोबिनवादी नीतियों से प्रेरित थे, मूलर के विचार रूढ़िवादी और गैर-उदारवादी थे। मूलर का मत था कि मुक्त व्यापार राष्ट्रीय एकता के लिए विरोधात्मक था इसलिये उन्होंने संरक्षणवाद, अविनिमेय राष्ट्रीय कागजी मुद्रा और एक निरंकुश अर्थव्यवस्था की वकालत की।
- 3) कई आर्थिक राष्ट्रवादियों के बीच यह आम सहमति थी कि मुक्त व्यापार और मुद्रा के लिये स्वर्ण मानक जैसी उदारवादी आर्थिक नीतियां राष्ट्रीय एकजुटता के अनुरूप नहीं हैं। तथापि, कुछ खास देशों के मामले में, खासकर ब्रिटेन के लिये ये राष्ट्रवादी लक्ष्यों की प्राप्ति में काफी सहायक हैं। ब्रिटेन के ढेर सारे नीति-नियंता उनके अंतर्राष्ट्रीयतावाद तथा विश्वशांति की वकालत की वजह से मुक्त व्यापार के पक्ष में नहीं थे। अपितु, वे इसलिये इसके पक्ष में थे कि वह मशीन निर्मित वस्तुओं के व्यापार में उनके एकाधिकार को बढ़ायेगा। यह उनके देश की शक्ति और समृद्धि में अभिवृद्धि करेगा। मुक्त व्यापार की विचारधारा ने ब्रिटिशों को एक राष्ट्रीय श्रेष्ठता भी महसूस कराई, जिसके ज़रिये वे अन्य, खासकर औपनिवेशिक देशों की संस्कृति और परंपरा को हेय ठहरा सकते थे किन्तु आर्थिक नीतियों में उदारवादी विचार सिर्फ ब्रिटेन जैसे प्रभुत्वशाली औद्योगिक और औपनिवेशिक शक्तियों में ही नहीं पाये जाते थे अपितु, यह उन देशों की नीतियों में भी उपस्थित थे जिसका औद्योगिक विकास कुछ देरी से हुआ था, जैसे-फ्रांस, जर्मनी बेलजियम और नीदरलैंड। अतः यह कहा जा सकता है कि आर्थिक राष्ट्रवाद समान रूप से उदारवादी आर्थिक नीतियों के विरुद्ध नहीं था। कुछ वैचारिक रूप से सीमित, आर्थिक राष्ट्रवाद की प्रवृत्तियाँ तत्संबंधित देशों की वास्तविक आवश्यकताओं का ध्यान रखते हुए कुछ उदारवादी नीतियों का समर्थन करती थीं।

इस प्रकार, आर्थिक राष्ट्रवाद को कुछ विशेष आर्थिक नीतियों से जोड़कर नहीं, अपितु राष्ट्र से जोड़कर समझा जा सकता है। आर्थिक राष्ट्रवादी कुछ ऐसी विशेष नीतियों की वकालत कर सकते हैं जो कि किसी समय विशेष में राष्ट्रीय आर्थिक वृद्धि में सहायता कर सकती है। आर्थिक राष्ट्रवादियों द्वारा किन्हीं नियत आर्थिक नीतियों की वकालत नहीं की गई है। ये स्थितियों के आधार पर विभिन्न रूप और अंतर्वस्तु ग्रहण कर सकती हैं। यह आर्थिक सिद्धांत के बजाय राष्ट्रवाद का एक स्वरूप है तथा यह आर्थिक उदारवाद का विरोधी नहीं है। राजनीतिक अर्थशास्त्री जिन परंपरागत दृष्टिकोणों—वाणिज्यवाद, राज्यसत्तावाद, संरक्षणवाद के ज़रिये आर्थिक राष्ट्रवाद को चिन्हित करते हैं, वह अब वैध नहीं है। यह राज्य नहीं राष्ट्र है और यह विशिष्ट आर्थिक नीतियाँ नहीं अपितु किसी समय विशेष में राष्ट्र का आर्थिक हित है, जिससे आर्थिक राष्ट्रवाद जुड़ा हुआ है।

### 6.2.2 औपनिवेशिक संदर्भ में आर्थिक राष्ट्रवाद

यद्यपि उनका विश्वास था कि राष्ट्रों में समानता के आधार पर ही शांतिपूर्ण वैश्विक व्यवस्था का निर्माण हो सकता है, फ्रेडरिक लिस्ट द्वारा प्रस्तुत की गई समानता की धारणा पश्चिमी देशों तक ही सीमित थी। एशिया और अफ्रीका जैसे महाद्वीप के अन्य देशों जिन्हें उन्होंने विश्व के 'उष्ण कटिबंध' की संज्ञा दी थी, के बारे में उनका विश्वास था कि उनके लिये नवजात उद्योगों की सुरक्षा का विचार अप्रासंगिक है क्योंकि इन देशों की नियति ही उपनिवेशीकृत होना है (हेलेनर 2002 : 314)। इस प्रकार का दृष्टिकोण ब्रिटेन और अन्य देशों के आर्थिक उदारवादियों की नीतियों के अनुरूप था, जिसके अनुसार श्रम का अंतर्राष्ट्रीय बंटवारा होना चाहिये जिससे पाश्चात्य देशों को विनिर्मित वस्तुएँ बनाने की छूट मिल सके और शेष विश्व अपने प्राथमिक उत्पादों का ही व्यापार कर सके।

उपनिवेशों में आर्थिक राष्ट्रवाद केंद्र और हाशिये के बीच, साम्राज्यवादी देशों और औपनिवेशिक देशों के बीच असमान संबंधों के विस्तृत ढांचे के अंतर्गत ही समा सकता है। यह संबंध उपनिवेश से उपनिवेशवादी देशों की तरफ धन के एकतरफा स्थानांतरण पर आधारित था। संसाधनों का यह स्थानांतरण प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष दोनों हो सकता है। प्रत्यक्ष तरीकों में शामिल था लूट (खासकर आरंभिक दिनों में), वेतन और निवेश पर ब्याज के ज़रिये आमदनी का दूसरे देशों में प्रत्यावर्तन। अप्रत्यक्ष तरीके कई प्रकार के थे जिनमें सबसे प्रमुख था उपनिवेशों के लिए व्यापार संबंधी प्रतिकूल शर्तों का होना, जिनके अंतर्गत उपनिवेशों को उपनिवेशवादी देश अथवा किसी अन्य देश में निर्यात के लिये प्राथमिक तथा कम दाम वाली वस्तुओं के उत्पादन के लिये प्रोत्साहित किया जाता था, ताकि धन के प्रत्यावर्तन के लाभ हेतु विदेशी मुद्रा अर्जित की जा सके। उपनिवेशों को उपनिवेशवादी देशों से औद्योगिक वस्तुओं के आयात के लिये बाध्य किया जाता था। इस प्रकार के असमान आर्थिक संबंधों के परिप्रेक्ष्य में ही औपनिवेशिक देशों में आर्थिक राष्ट्रवाद के विचारों का विकास हुआ। यहां हम भारत के संदर्भ में इन विचारों की चर्चा करेंगे जो कि 1757 से 1947 तक एक औपनिवेशिक देश था।

### 6.3 भारत में आर्थिक राष्ट्रवाद

भारत में आर्थिक राष्ट्रवाद ब्रिटेन द्वारा इसकी अधीनता के संदर्भ में विकसित हुआ। यह दो अन्य घटनाओं से संबंधित था – विश्व स्तर पर पूंजीवाद के विस्तार के फलस्वरूप जिसे 'पहला भूमंडलीकरण' कहा गया, का होना और एक स्पष्ट रूप से परिभाषित क्षेत्र के रूप में भारत का उपनिवेशवादी निर्माण। 19वीं सदी के मध्य में ही ब्रिटेन औद्योगीकृत हो चुका था और वह अपने उद्योगों के लिए कच्चे माल, अपनी कामगार जनसंख्या के लिये खाद्यान्न

तथा अपने यहां निर्मित होने वाली वस्तुओं के लिये अपेक्षतया सुरक्षित बाजारों की तलाश चारों तरफ कर रहा था। 19वीं शताब्दी में कुछ अन्य देशों में औद्योगिकीकरण की प्रक्रिया शुरू हुई जिसकी वजह से उन क्षेत्रों में ब्रिटेन का प्रवेश रूक गया, साथ ही साथ ये देश यूरोप तथा शेष विश्व के गैर-औद्योगिक देशों में ब्रिटेन के प्रतियोगी भी बन गये। इस प्रकार, यूरोपीय औद्योगिकीकरण अभूतपूर्व और अनपेक्षित ढंग से पूरे विश्व को अनावृत करने लगा, जिसकी वजह से अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में जबर्दस्त बढ़ोतरी हुई। यह बढ़ोतरी औद्योगिक माल के यूरोप से बाहर जाने और प्राथमिक उत्पादों के यूरोप के अंदर आने के संदर्भ में मूलतः असमान थी, खासकर यूरोप के उत्तरी और पश्चिमी भागों में। इस असमान व्यापार पर आधिपत्य स्थापित करने के लिये 19वीं सदी के अवसान के समय यूरोपीय शक्तियों के बीच तीव्र प्रतिद्वंद्विता का जन्म हुआ। जिसके परिणामस्वरूप तत्संबंधित प्रभावित क्षेत्रों जो कि प्रत्यक्ष रूप से नियंत्रित अथवा परोक्ष रूप से प्रभावित क्षेत्र थे, में जिसे हम 'विश्व का विभाजन' कहते हैं, की स्थिति पैदा हो गई। दूसरी तरफ, साम्राज्यवादी यूरोपीय शक्तियों द्वारा लगातार यह कोशिश की जाती रही कि औपनिवेशिक क्षेत्रों के मध्य उपस्थित व्यापार की आंतरिक बाधाओं को समाप्त किया जाए तथा इनका स्पष्ट रूप से प्रशासनिक एकीकरण किया जाए। भारत में 1858 के बाद औपनिवेशिक राज्य का सुदृढीकरण हुआ तथा इसकी संस्थागत संरचना में अभूतपूर्व स्तर पर विस्तार हुआ। साथ ही यह भी कोशिश की गई कि एक 'सामाजिक, आर्थिक तथा क्षेत्रीय रूप से सुगठित' स्पष्ट आधुनिक स्वरूप को निर्मित किया जाए। इसमें शामिल था आंतरिक कराधान को समाप्त करना, एकरूप कानून की व्यवस्था करना, एक केंद्रीय मौद्रिक व्यवस्था, परिवहन तथा संचार के तंत्र का निर्माण, जैसे- रेलवे, रोड, पोस्ट और टेलीग्राफ, टेलीफोन, हर दसवें वर्ष जनगणना हेतु संस्था, भूमि और लोगों के मापन हेतु विभिन्न प्रकार की सर्वेक्षण एजेंसियाँ, भूमि कर के प्रबंधन हेतु, कानून और व्यवस्था बनाए रखने हेतु तथा पूरे देश में राज्य की उपस्थिति का आभास दिलाने हेतु एक आधुनिक नौकरशाही और पुलिस।

स्थान का क्षेत्रीयकरण वैश्विक साम्राज्यवादी अर्थव्यवस्था के वि-क्षेत्रीकृत चरित्र से नज़दीकी से जुड़ा था। अतः 'इस प्रकार क्षेत्र के औपनिवेशिक उत्पादन ने उन व्यवहारों को अपरिहार्य बना दिया जो कि किसी क्षेत्र विशेष में रहने वाले स्वदेशी समाज को सार्वदेशिक सामाजिक संबंधों से जोड़ते थे।' इस तरह से 'औपनिवेशिक भारत का परिसीमित आर्थिक और क्षेत्रीय संबंध विश्व बाजार के विक्षेत्रीकृत गतिशीलता में समाहित कर दिए गए।' (गोस्वामी 1998 : 612-13) इस प्रकार प्रतिबंधित औपनिवेशिक क्षेत्र, विस्तृत औपनिवेशिक बाजार तथा श्रम के अंतर्राष्ट्रीय विभाजन के इस संदर्भ में राष्ट्रवादी प्रतिक्रिया निर्मित और लोकप्रिय हुई।

### 6.3.1 प्रारंभिक विचार

राष्ट्रवादी आर्थिक विचारों की प्रमुख धारा का निर्माण 1870 से 1905 की अवधि में हुआ। तथापि, महाराष्ट्र में लोगों का एक ऐसा छोटा समूह था जिन्होंने इसके पहले भी ब्रिटेन द्वारा भारत के आर्थिक शोषण से संबंधित कुछ मुद्दों पर चर्चा की थी और लिखा था। वास्तव में, भारत में ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के आर्थिक दुष्परिणामों के बोध को 1830 के दशक के आरंभिक दिनों में राजा राममोहन राय के लेखन में ढूँढा जा सकता है। उन्होंने ब्रिटेन को भेजे जाने वाले भारतीय सम्पत्ति के विरुद्ध शिकायत की तथा अपनी खुद की खेती करने वाले किसानों की दुर्दशा पर चिंता व्यक्त की। 1840 के दशक में कुछ मराठी बुद्धिजीवियों जैसे - भास्कर पांडुरंग तारखदकर, गोविंद विहल कुंटे (जो भाऊ महाजन के नाम से प्रसिद्ध थे) तथा रामकृष्ण विश्वनाथ ने भारत के आर्थिक शोषण के लिये ब्रिटेन की आलोचना की, खासतौर से इसके संसाधनों की निकासी के लिये। उन्हें पक्का यकीन था कि भारत के लिये अच्छा होने के बजाय ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन 'भारत द्वारा अब तक

झेला गया सबसे कड़वा अभिशाप है।' यद्यपि उन्होंने ब्रिटिश शासन की राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्रों में भी आलोचना की परंतु उनकी सबसे कटु आलोचना आर्थिक क्षेत्रों में थी। भास्कर तारखदकर ने घोषित किया था कि वह चाहते थे कि 'भारत के धन की निकासी तथा इसे गरीब बनाने में ब्रिटिश सरकार की वर्तमान सख्त नीतियां किस प्रकार क्रियाशील हैं, वे उसे दिखा सकें।' उन्होंने तर्क दिया कि संपूर्ण भारत की तरह ही महाराष्ट्र में स्वदेशी उद्योग के विनाश का परिणाम कामगारों की गरीबी और दुर्गति के रूप में सामने आया। इसके अतिरिक्त 1757 में प्लासी के युद्ध और 1815 के बीच भारत के धन से लगभग 1 हजार मिलियन पौंड सोख लिया गया। उन्होंने औपनिवेशिक सरकार की कर मुक्ति की नीति की भी आलोचना की, जिससे 'बिना किसी अतिरिक्त शुल्क को दिये ब्रिटिश वस्तुओं को भारत पर थोप दिया गया।' इसके परिणामस्वरूप आधुनिक उद्योग के विकास की संभावनाएँ सीमित हो गईं, इसके साथ-साथ स्वदेशी हथकरघा उद्योग भी नष्ट हो गया। इसी तरह भाऊ महाजन ने भारत के खजाने पर युद्ध के खर्च का बोझ डालने की उपनिवेशवादी नीतियों की आलोचना की। 'अनावश्यक युद्धों द्वारा भारतीय खजाने को खाली करने के बाद सरकार ने बांड जारी किए।' रामकृष्ण विश्वनाथ ने धन की निकासी तथा व्यापार के प्रतिकूल संतुलन को भारत की गरीबी के लिये जिम्मेदार ठहराया। उन्होंने भारतीयों को कठोर परिश्रम करने तथा आधुनिक राष्ट्रीय उद्योगों में निवेश करने की वकालत की (नाइक 2001)। इस प्रकार 1840 के दशक में भारतीय बुद्धिजीवी वर्ग औपनिवेशिक शासकों द्वारा भारतीयों से अनुचित और शोषणकारी व्यवहार करने के मुद्दे पर उत्तेजित था। यद्यपि उनकी आलोचना अधूरी थी, तथापि उसने आर्थिक भेद-भाव के विभिन्न पक्षों पर जोर दिया, जिसे बाद में विस्तार से उठाया गया।

### 6.3.2 औपनिवेशिक शासन की आर्थिक समालोचना

1870 तथा 1880 के दशकों में ब्रिटिश शासन की एक विस्तृत तथा सुगठित राष्ट्रवादी समालोचना का अविर्भाव हुआ। 'राष्ट्रीयतावादी राजनीतिक अर्थव्यवस्था के प्रमुख समर्थकों में थे - दादाभाई नौरोजी (1825-1917), महादेव गोविंद रानाडे (1842-1901), रोमेशचंद्र दत्त (1848-1909), गोपाल कृष्ण गोखले (1866-1915), जी. सुब्रह्मण्य अय्यर (1855-1916), जी.वी. जोशी (1851-1911), बालगंगाधर तिलक (1856-1920), और सुरेन्द्रनाथ बनर्जी (1849-1925)। उनको यह आभास हो चुका था कि भारत को वैश्विक पूंजीवाद के अंदर एक अधीनस्थ स्थिति में समाहित कर लिया गया है। रानाडे ने इस स्थिति को अधीन औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था की संज्ञा दी। उनके अनुसार देश को एक औपनिवेशिक बाग में रूपांतरित कर दिया गया है, यहां पर पैदा होने वाले कच्चे उत्पादों को ब्रिटिश जहाजों में भरकर ब्रिटिश एजेंट बाहर ले जाते हैं। फिर ब्रिटिश कौशल तथा पूंजी की सहायता से इसे कपड़ों में परिवर्तित किया जाता है, उसके बाद ब्रिटिश व्यापारियों द्वारा अधीनस्थ देशों में पुनः निर्यात किया जाता है (गोस्वामी में उद्धृत पृ. 615)। इन राष्ट्रवादी लेखकों ने भारत में हो रहे ग्रामीणीकरण और वि-औद्योगिकीकरण की भी आलोचना की। इसके अतिरिक्त नौरोजी द्वारा सूत्रबद्ध धन की निकासी का सिद्धांत ब्रिटिश शासन की निंदा करने का सबसे प्रसिद्ध राष्ट्रवादी आर्थिक फलक बना रहा।

आरंभिक भारतीय राष्ट्रवादियों के आर्थिक विचारों के अपने अग्रणी और प्रतिष्ठित सर्वेक्षण में बिपिनचंद्र ने आरंभिक राष्ट्रवादी नेताओं द्वारा औपनिवेशिक आर्थिक नीतियों की तीखी आलोचना पर विस्तृत चर्चा की है। धन की निकासी, स्वदेशी उद्योगों के पतन, अत्यधिक कराधान, भेदभावपूर्ण अंतर्राष्ट्रीय व्यापार आदि विभिन्न मुद्दों पर राष्ट्रवादियों द्वारा प्रस्तुत की गई आलोचनाओं को वे अपने अध्ययन में शामिल करते हैं। इस प्रभाग में हम इस आलोचना से संबंधित कुछ महत्वपूर्ण मुद्दों पर चर्चा करेंगे।

### 6.3.2.1 धन की निकासी

भारत में धन की निकासी की आलोचना शायद उपनिवेशविरोधी राष्ट्रीय आख्यान में सर्वाधिक लोकप्रिय भावना थी। औपनिवेशिक शासक भारत के धन को बाहर लिए जा रहे थे, जिसके फलस्वरूप उत्पन्न देश की गरीबी को औपनिवेशिक शासन की सबसे बड़ी आर्थिक बुराई के रूप में माना गया। निकासी को बिना किसी आर्थिक और वाणिज्यिक लाभ के भारत के संसाधनों को ब्रिटेन को एकतरफा स्थानांतरित किए जाने के रूप में देखा गया। सम्मानित राष्ट्रवादी दादाभाई नौरोजी 'निकासी के सिद्धांत' के प्रवर्तक थे। 1867 में एक भाषण में उन्होंने तर्क दिया कि ब्रिटेन भारत के धन को सोख रहा है, जो कि इस देश के राजस्व का पच्चीस प्रतिशत है और यह ईंग्लैंड के संसाधनों में जुड़ गया है। 1873 में उन्होंने फिर भारत के हितों की अनदेखी करने और इसे ब्रिटेन के लाभ हेतु गुलाम बनाने के लिये आलोचना की। उन्होंने कहा कि यह अप्राकृतिक और दानवी बुराई है। उन्होंने घोषणा की कि 'भारत से बह रही खून की नाली को रोकना' इस समय का सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न है और अपने देशवासियों का आह्वान किया कि वे इस समस्या का समाधान करने के लिये अपनी सारी ऊर्जा लगा दें। 50 वर्षों तक उन्होंने निकासी के विरुद्ध अपने संघर्ष को जारी रखा। उनकी पुस्तक 'पॉवर्टी एण्ड अन-ब्रिटिश रूल इन इंडिया' (1901) राष्ट्रवादी राजनीतिक अर्थव्यवस्था के निर्माण में अब भी एक मील का पत्थर है। विलिमय डिग्बी (1849-1904) की पुस्तक 'प्रास्परस ब्रिटिश इंडिया' (1901), जी.एस. अय्यर की 'सम इकोनामिक आस्पेक्ट्स ऑफ ब्रिटिश रूल इन इंडिया' (1903) और आर.सी. दत्त की 'इकोनामिक हिस्ट्री ऑफ इंडिया (1901-1903) कुछ अन्य विस्तृत कार्य हैं जिनमें भारतीय संसाधनों के उपनिवेशवादी निकासी की कटु आलोचना की गई है। कई अन्य नेताओं और समाचारपत्रों ने इस प्रचार में भाग लिया जो कि जल्द ही व्यापक राष्ट्रवादी विचारधारा का केंद्रीय सिद्धांत बन गया।

### 6.3.2.2 भारतीय जनता की गरीबी

भारत की आम जनता का गरीबी में पिसना औपनिवेशिक शासन के सौ से अधिक वर्षों के बाद सबके सामने स्पष्ट था। भारतीय बुद्धिजीवी वर्ग द्वारा शुरू में जिस आशा को प्रश्रय दिया गया कि भारत में ब्रिटिश शासन उदार आर्थिक नीतियों का पालन करेगा जिसकी वजह से देश समृद्ध होगा, 19वीं सदी के अवसान के समय तिरोहित हो गया। 1870 से राष्ट्रवादियों के अंदर भारतीयों की अत्यधिक गरीबी के बारे में लगातार चिंताएं थीं। राष्ट्रवादियों द्वारा की गई सार्वजनिक चिंताओं में गरीबी के मुद्दे का ही प्रभुत्व था। ब्रिटिश शासन द्वारा भारत को दरिद्र बनाए जाने की निर्बाध आलोचना उदारवादी राष्ट्रवादियों के लेखन और वक्तव्यों में भी काफी स्पष्ट थी। 1870 में इस मुद्दे पर नौरोजी ने अपना प्रसिद्ध पर्चा पढ़ा तथा 1876 में उनकी पुस्तक 'दि पॉवर्टी ऑफ इंडिया' आई। महादेव एन.जी. रानाडे, जी.वी. जोशी, आर.सी. दत्त तथा अन्योंने प्रत्येक उपलब्ध मंच पर लगातार इस मुद्दे पर चर्चा की। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने 1886 में इस मुद्दे को अपने हाथ में ले लिया और तब से इसकी लगातार चर्चा की। 1891 में इसने एक प्रस्ताव को मंजूरी दी जिसमें कहा गया कि 'पूरे पचास मिलियन की जनसंख्या जो कि हर वर्ष बढ़ती जा रही है, वह अकाल की दहलीज़ पर एक दयनीय अवस्था में घिसट रही है' और यह कि प्रत्येक दशक में कई मिलियन वास्तव में अकाल से तबाह हो जाते हैं (बिपिन चंद्र 1966 : 9)। आगामी सत्रों में इस मुद्दे पर चर्चा और प्रस्ताव एक नियमित लक्षण हो गए। भारतीय राष्ट्रवादियों ने यह तर्क दिया कि भारत एक शताब्दी से अधिक के ब्रिटिश शासन के पश्चात भी विश्व के गरीबतम देशों में से एक था। उन्होंने जोर दिया कि यह और भी बदतर था कि गरीबी बढ़ रही है। उन्होंने भारत के प्रत्येक वर्ग और समूह को इस मंच पर लाने की कोशिश की। इस प्रकार

गरीबी की समस्या एक आम राष्ट्रीय मुद्दा तथा भारतीय समाज के प्रत्येक वर्ग की एकता का फलक बन गई।

‘गरीबी की समस्या पर बहस को राष्ट्रवादियों और उनके साथ सहानुभूति रखने वालों ने इस स्वर तक उंचा उठा दिया कि ब्रिटिश अधिकारियों को इस पर प्रतिक्रिया देने के लिये बाध्य होना पड़ा। प्रारंभ में उन्होंने गरीबी के अस्तित्व को नकारा और इसकी जगह पर औपनिवेशिक शासन के खुशनुमा चित्र को प्रस्तुत करने की कोशिश की किंतु राष्ट्रवादियों द्वारा प्रस्तुत किये गये आंकड़े जो कि मुख्यतः अधिकारिक स्रोतों से ही उद्धृत थे, इस प्रकार सीधे खारिज नहीं किए जा सकते थे। कई सरकारी अधिकारियों ने इस बात पर जोर दिया कि ऐसी स्थिति नहीं थी और वास्तव में भारत प्रगति कर रहा था। तथापि, उनके तर्क लोगों के गले नहीं उतरे।

प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से भारतीय नेताओं ने यह स्पष्ट किया कि गरीबी का प्रमुख कारण औपनिवेशिक सत्ता का पराया और शोषणकारी चरित्र है, तथा औपनिवेशिक सरकार की कार्यप्रणाली भारत की नहीं, अपितु ब्रिटेन के हितों की रक्षा करने की ओर उन्मुख है।

### 6.3.2.3 उद्योगों का अल्पविकास

राष्ट्रवादियों का यह स्पष्ट मत था कि औपनिवेशिक शासन के अंतर्गत भारत औद्योगिक अल्पविकास की प्रक्रिया से गुज़र रहा था। यह दो परिघटनाओं द्वारा उत्पन्न किया गया था, दोनों ही औपनिवेशिक नीतियों से नजदीक से जुड़ी थीं – भारत के स्वदेशी उद्योग-धंधों का पतन तथा आधुनिक उद्योग के तीव्र विकास की विफलता। राष्ट्रवादियों के अनुसार इसने भारत की गरीबी में बड़ी भूमिका निभाई क्योंकि एक क्षेत्र में रोजगार के अवसर समाप्त हो गये परंतु आधुनिक क्षेत्रों के तीव्र विकास द्वारा क्षति की पूर्ति नहीं हुई। उन्होंने लगातार इस तथ्य की तरफ इशारा कि भारत एक समय में महान उत्पादक देश था, जो कि एशिया और यूरोप के सभी भागों में अपनी वस्तुओं का निर्यात करता था परंतु अब स्थिति उल्टी हो गई थी और भारतीय स्वयं ब्रिटेन से कपड़ों के आयात करने के लिये विवश थे। जैसा कि आर.सी. दत्त ने घोषणा की कि यह ‘ब्रिटिश भारत के इतिहास का एक सर्वाधिक दुखदायी अध्याय था’। इसकी वजह से भारत की संपत्ति कम हो रही थी, रोजगार के अवसर भयावह रूप से कम हो रहे थे और गरीबी लगातार बढ़ रही थी। औद्योगिक रोजगार के सिकुड़ने की वजह से ग्रामीकरण की प्रक्रिया और कृषि पर अत्यधिक दबाव बढ़ा जो कि स्वयं में एक विकट स्थिति थी। रानाडे के शब्दों में इसका अर्थ था कि ‘हम खाई के मुहाने पर खड़े हैं और नीचे की तरफ दिया हुआ एक छोटा-सा धक्का हमें अमिश्रित और परम लाचारी के रसातल में पहुंचा देगा’ (चंद्र 1966 : 57)।

ऐसा इसलिये हुआ क्योंकि भारत में अपने सस्ते मशीन निर्मित वस्तुओं के बेचने हेतु ब्रिटिशों ने अपनी राजनीतिक शक्तियों का प्रयोग किया, जिसकी वजह से भारत का प्रसिद्ध हस्तशिल्प उद्योग नष्ट हो गया। करों की समाप्ति तथा भारत पर मुक्त व्यापार को थोपने, और भारत के सुदूर क्षेत्रों में फैले हुए बाजारों तक सस्ती एवं तीव्र पहुंच के उद्देश्य से रेलवे के निर्माण ने भारतीय बाजारों के ऊपर ब्रिटिश औद्योगिक प्रभुत्व के आसान विस्तार हेतु स्थितियों का निर्माण किया। तत्पश्चात औपनिवेशिक सरकार की कई अन्य नीतियों के परिणामस्वरूप आधुनिक उद्योगों का अत्यंत मंथर गति से विकास हुआ। उदाहरण के लिए राष्ट्रवादियों ने तर्क दिया कि आयात शुल्क की समाप्ति की वजह से विकास में दोगुनी बाधा पड़ी – देश के बाजारों में सस्ती विदेशी वस्तुओं की घुसपैठ हुई तथा सरकार की राजस्व वसूली में कमी आई, जिसे बाद में और आंतरिक लूट-खसोट तथा निम्न सार्वजनिक व्यय द्वारा पूरा किया जाता था। एक राष्ट्रवादी नेता सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के अनुसार, ईंग्लैण्ड

की भारत में यह स्थायी नीति रही है, कि ईंग्लैंड के उद्यमियों के हित के लिए भारत को कच्चे उत्पाद की भूमि के रूप में परिवर्तित कर दिया जाए' (चंद्र 1966 : 55)। अतः राष्ट्रवादियों ने यह मांग की कि वे नीतियाँ जिन्होंने भारतीय उद्योगों के विकास में बाधाएँ खड़ी की थीं, समाप्त की जाएँ तथा देश के तीव्र औद्योगिकीकरण पर जोर दिया जाए। इस संबंध में उनके एजेंडे का सबसे महत्वपूर्ण बिंदू था एक उचित कर व्यवस्था का निर्माण, जो अधिक औद्योगिकीकृत देशों से मशीन निर्मित सस्ती वस्तुओं के प्रवेश को रोक सके तथा भारतीय उद्योगों के विकास में सहायता कर सके।

### 6.3.2.4 लोकवित्त

औपनिवेशिक लोकवित्त की राष्ट्रवादी आलोचना इसके दोनों पक्षों से संबंधित थी – कितना राजस्व इकट्ठा किया गया और इसे कैसे खर्च किया गया। औपनिवेशिक सरकार की वित्तीय नीतियों ने देश के संसाधनों पर इसके हानिकारक प्रभावों की वजह से राष्ट्रवादियों का ध्यान अपनी तरफ खींचा। वे औपनिवेशिक सरकार की कर संबंधी नीतियों के कटु आलोचक थे जो ये दावा करती थीं कि भारत में कर बहुत कम था। सरकारी प्रवक्ताओं ने यह तर्क दिया कि भूमि, ताड़ी तथा अफीम से प्राप्त राजस्व कर नहीं है, जिसकी वजह से कर व्यवस्था हल्की प्रतीत होती है। दूसरी तरफ, राष्ट्रवादियों ने यह तर्क दिया कि सरकार द्वारा देश की संपूर्ण वार्षिक आय से किया जाने वाला संग्रहण भी कर का एक रूप माना जाना चाहिए। उन्होंने सरकार के इस दावे को खारिज किया कि भारत पर कर अत्यधिक कम लगाए गए हैं तथा यह दावा किया कि करों का बोझ विशाल है और यह सीमा को पार कर रहा है। रानाडे ने 1980 में कहा कि, 'करों में और बढ़ोतरी को राजनीतिक पागलपन के रूप में देखा जाना चाहिये', इसी प्रकार नौरोजी ने यह तीखी प्रतिक्रिया व्यक्त की कि औपनिवेशिक शासक 'इस प्रकार अधिकाधिक कर निचोड़ रहे थे जैसे पहले से ही निचुड़े हुए संतरे को निचोड़ा जाए – पीड़ा और विपत्ति थोप रहे हैं।' एक मराठी पत्रिका 'दि केसरी' जिसके संपादक तिलक थे, ने लिखा "भारत में कोई भी वस्तु कर से नहीं बची है, यहां तक कि पेड़ों के पत्तों पर भी कर लगा दिये गये हैं। तथापि, यहां पर कुछ ऐसी वस्तुएं जरूर हैं, जिन पर अभी कर नहीं लगाया गया है, ताकि अंग्रेज शायद आनंदातिरेक से भर सकें। इन वस्तुओं में भारतीय जनता की त्वचा और उनके वातावरण का उल्लेख किया जा सकता है (बिपिन चंद्र 1966 में उद्धृत : 503 – 4)।

राष्ट्रवादी तर्क यह था कि प्रति व्यक्ति लगने वाले कर की राशि पर ध्यान देने से महत्वपूर्ण है प्रति व्यक्ति आय से इसके अनुपात पर विचार करना। प्रति व्यक्ति आय के अनुपात में इकट्ठा की गई राशि की गणना करते हुए नौरोजी ने यह तर्क दिया कि भारत में कर का प्रतिशत सोलह है, जबकि ईंग्लैंड में यह सिर्फ आठ प्रतिशत है। अतः राष्ट्रवादियों ने दृढ़तापूर्वक कहा कि करों के भार को देश की संपत्ति और उसके नागरिकों की आमदनी के संदर्भ में देखा जाना चाहिये।

राष्ट्रवादी दृष्टिकोण से करों के परिणाम से ज्यादा महत्वपूर्ण था इनके खर्च किए जाने का तरीका। संग्रह किए गये कर की एक भारी संख्या देश से बाहर चली जाती थी, यहां खर्च नहीं की जाती थी। जैसा कि नौरोजी ने तर्क दिया, 'ऐसा नहीं है कि कराधान की घटना भारत की शत्रु है...., अपितु शत्रु है राजस्व के एक भाग का देश से बाहर ले जाया जाना।' इसके अतिरिक्त इसका सेना के ऊपर भारत के पड़ोसियों से युद्ध के लिये, रेलवे के लिये तथा अन्य कई अनुत्पादक और बेकार गतिविधियों हेतु इसके उपयोग की उनके द्वारा कटु आलोचना की गई। 1897 में जी.के. गोखले ने तर्क दिया कि किसी भी देश में कराधान की उपयोगिता का निर्णय 'जिस उद्देश्य से इसमें बढ़ोतरी की जाती है तथा सार्वजनिक धन के

खर्च उत्पन्न परिणामों के आधार पर किया जाता है। यूरोपियन तथा अन्य स्वतंत्र देशों में कराधान की वजह से 'उन देशों की शक्ति और सुरक्षा में अभिवृद्धि हुई और उनकी जनता के ज्ञानोदय और समृद्धि में भी बढ़ोतरी हुई।' किन्तु भारत में जैसा कि गोखले ने जोर दिया कि लगातार बढ़ रहे कराधान और इसके अविवेकपूर्ण खर्च ने 'निरंकुश प्रबंधन, दोषपूर्ण संवैधानिक नियंत्रण और विदेशी प्रभुत्व में अंतर्निहित दोषों ने हमारे संसाधनों के दोहन में लगातार बढ़ोतरी हेतु मदद ही की, हमारे भौतिक विकास को मंद किया, हमारी प्राकृतिक सुरक्षा को कमजोर किया और हमारे ऊपर अनिर्धारित तथा असीम आर्थिक बोझ लाद दिया (बिपिन चंद्र 1966 : 575)।

वह मूलभूत तथ्य जिसे राष्ट्रवादी स्पष्ट करना चाहते थे, वह था कि विदेशी शासन ही देश की इस दयनीय दशा के लिये मूलतः जिम्मेदार है। यदि किसी स्वतंत्र देश की सरकार अधिक कर लगाती है तो वह वहां के लोगों की भलाई के लिये होता है किन्तु किसी विदेशी सरकार द्वारा अत्यधिक कर संग्रहण राष्ट्रीय संसाधनों का क्षय करता है।

### 6.3.2.5 कृषि

औपनिवेशिक भारत की लगभग अस्सी प्रतिशत जनता कृषि पर निर्भर थी और भूमि से प्राप्त होने वाला राजस्व 19वीं शताब्दी में सरकारी कर-संग्रहण का सबसे बड़ा भाग होता था। भूमि राजस्व की मांग अधिक थी और इसकी अत्यंत ही कड़ाई से वसूली होती थी, जिसकी वजह से किसानों की विपन्नता बढ़ती जा रही थी। राष्ट्रवादियों ने इस मुद्दे को आरंभ में ही उठाया और इस बात पर जोर दिया कि यह अकालों के आवर्तन, भारत की गरीबी और इसकी कृषि के पतन का एक प्रमुख कारण है। सभी राष्ट्रवादियों ने इस मुद्दे को उठाया। किंतु यह रोमेशचंद्र दत्त थे जिन्होंने इसे एक सिलसिलेवार रूप में विकसित किया। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने 1888 से 1903 के बीच लगभग प्रत्येक वर्ष इस मुद्दे पर प्रस्ताव पास किये। औपनिवेशिक भू-राजस्व नीतियों की समालोचना लगभग संपूर्ण राष्ट्रीय नेतृत्व से उद्भूत हुई। राष्ट्रवादी आंदोलनकारियों ने इन बातों पर आपत्ति व्यक्त की – (i) भू-राजस्व का उच्च स्तर जिसने कृषि बचत के एक बड़े भाग को खा लिया, भारत से पूंजी की निकासी, कृषि में निवेश में बाधा, देहातों की गरीबी और नियमित अकालों का सृजन; (ii) राजस्व के निर्धारण में लगातार संशोधन, जिसकी वजह से भूमि में निवेश हेतु किसानों में अनिश्चितता और निरूत्साह, परिणामस्वरूप कृषि में अस्थिरता और क्षति; (iii) सरकार द्वारा राजस्व की मांग में समय-समय पर वृद्धि की वजह से जमींदारों द्वारा अपने-अपने क्षेत्रों में इनमें और अधिक बढ़ोतरी (iv) किसानों से कर और राजस्व की कड़ी वसूली और साथ ही साथ उनकी बेदखली और सजा। इन समस्त नीतियों का संयुक्त प्रभाव था कृषि से पूंजी की निकासी, भूमि में निवेश को रोकना, भूमि की गुणवत्ता में कमी आना, कृषि पर आधारित जनसंख्या की गरीबी और अकालों की पुनरावृत्ति जिसकी वजह से भारी मात्रा में मृत्यु।

इस स्थिति में सुधार के लिये राष्ट्रवादियों ने सुझाव दिया कि सरकार अपनी भू-राजस्व की मांग को कम करे जिससे किसानों के पास जलवायु संबंधी विपरीत परिस्थितियों से संघर्ष करने हेतु कुछ अधिशेष रहे, वसूली के तरीकों को और लचीला बनाया जाये तथा प्रत्येक क्षेत्र में एक स्थायी स्वामित्व नीयत किया जाए। स्थायी बंदोबस्त की मांग का यह अनिवार्य अर्थ नहीं था कि राष्ट्रवादी संपूर्ण भारत में बंगाल के तर्ज पर जमींदारी व्यवस्था की मांग कर रहे थे। कई मामलों में वे यह मांग कर रहे थे कि लंबी अवधि के लिये स्वामित्व को निश्चित कर दिया जाए जिसके अंतर्गत किसान इस बात के लिये सुनिश्चित हो जाए कि उन्हें लंबे समय तक एक निश्चित राजस्व देना है और उनकी भूमि जब्त नहीं की जाएगी। यह तथ्य है कि अधिकतर राष्ट्रवादी बंगाल की तरह का बंदोबस्त और सभी प्रकार के



बंदोबस्तों के तहत एक निश्चित सरकारी मांग के बीच फर्क करते थे जिसका सत्यापन उनकी अनेक रचनाओं में है (विस्तृत विवरण के लिए देखें बिपिन चंद्र 1966 : 420-36)। सरकार से उनकी अपील लंबे समय के लिये राजस्व को निश्चित करने की थी ताकि किसानों का भला हो सके तथा अधिशेष का भूमि में सुधार हेतु पुनर्निवेश किया जा सके।

### 6.3.2.6 विदेशी व्यापार

यद्यपि भारत ने हमेशा ही अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में हिस्सा लिया है, औपनिवेशिक कब्जे के बाद यह भारी मात्रा में बढ़ा। आयात और निर्यात दोनों तेजी से बढ़े तथा व्यापार की प्रकृति में एक महत्वपूर्ण रूपांतरण हुआ। 1813 तक भारत प्राथमिक रूप से विनिर्मित वस्तुओं का निर्यात करता था, खासकर सूती और सिल्क कपड़ों का तथा कीमती धातुओं, जैसे— सोने और चांदी का आयातक था तथापि, 19वीं शताब्दी में यह कच्चे कपास, जूट, चाय, काफी एवं खाद्यान्न तथा अन्य औद्योगिक कच्चे माल आदि प्राथमिक उत्पादों का निर्यातक बन गया तथा विनिर्मित वस्तुओं का आयातक बन गया। भारत के व्यापार की एक अन्य विशेषता बन गई आयात मूल्य के ऊपर निर्यात मूल्य की अधिकता।

राष्ट्रवादियों ने औपनिवेशिक प्रशासन की इस आशावादी दृष्टिकोण को चुनौती दी जिसके अनुसार व्यापार में वृद्धि भारत के लिये अच्छा था। उन्होंने तर्क दिया कि व्यापार के बढ़ते हुए परिमाण को किसी देश के संदर्भ और प्रकृति को समझे बिना संपन्नता का सूचक नहीं माना जा सकता। वह इस बात से भी सहमत नहीं थे कि यदि यूरोपीय देशों से तुलना की जाए तो व्यापार का परिमाण बढ़ा था। जहां तक व्यापार की प्रकृति का संबंध था उन्होंने दृढ़ता से कहा, वह पूर्ववर्ती प्रवृत्ति के विपरीत था और भारतीय अर्थव्यवस्था के वि-औद्योगिकृत स्वरूप को व्यक्त करता था। उन्होंने यह भी समझ लिया था कि जिस तथाकथित व्यापार के संतुलन की बात की जा रही थी और जिसमें आयात के ऊपर निर्यात की अधिकता का ढोल पीटा जा रहा था, वह भारत के पक्ष में नहीं था। बल्कि यह विदेशी मुद्रा अर्जित करने के लिये तदनुकूल परिस्थिति का निर्माण था ताकि भारत अपने लादे गए विदेशी घाटे पर बढ़ती हुई दर से ब्याज अदा करे, तथाकथित 'घरेलू मूल्य' अदा किए जाएं तथा भारत में ब्रिटिश नागरिकों के वेतन और अन्य कमाइयाँ ब्रिटिश मुद्रा में प्रेषित की जा सकें। अतः भारत की व्यापार की कमाई ने ब्रिटेन का भला किया और भारत को सोख लिया। 1895 में दादाभाई नौरोजी ने घोषणा की कि आयात की कमाई 'वस्तुतः वह तरीका था जिससे विदेशियों की आवश्यकताओं और ब्रिटिश शासकों द्वारा धन को ले जाने की प्रक्रिया को भारत की गरीब जनता को पूरा करने के लिए बाध्य किया गया।' आर.सी. दत्त ने भी यह चिन्हित किया कि 'घरेलू शुल्क के नाम पर भार से आर्थिक निकासी ने देश को जितना वह आयात कर सकता था, उससे अधिक निर्यात करने को मजबूर किया।' यह अधिकता अकाल के वर्षों के दौरान भी मजबूरी में चलती रही जब देश में स्वयं खाद्यान्नों की घोर आवश्यकता थी।

### 6.3.3 औपनिवेशिक भारत में आर्थिक राष्ट्रवाद का उभार

भारत में आर्थिक राष्ट्रवाद औपनिवेशिक सरकारी अधिकारियों और प्रारंभिक राष्ट्रवादियों के बीच वैचारिक प्रतिवाद से जन्मा। 19वीं शताब्दी का उत्तरार्ध वह काल था जब यह वैचारिक संघर्ष सर्वाधिक तीव्र था। आरंभ का यह आशावाद कि विश्व की अग्रणी औद्योगिक शक्ति भारत को अपनी तरह से ही विकसित करेगी, ने बाद में इस निराशावादी अनुभूति का रूप ले लिया कि वास्तव में भारत पीछे जा रहा है। भारतीय अर्थव्यवस्था के प्रत्येक पक्ष के व्यापक और बारंबार विश्लेषण के पश्चात आरंभिक राष्ट्रवादी इस नतीजे तक पहुंचते दिखे कि भारतीय अर्थव्यवस्था की जड़ता और पतन औपनिवेशिक शासकों की असावधानी से

नहीं थी अपितु यह औपनिवेशिक शासन की संरचना से गहरे स्तर पर जुड़ी हुई थी, कि 'ब्रिटिश शासन भारत के लिये आर्थिक रूप से घातक था और शायद यह योजनाबद्ध था।' (बिपिन चंद्र 1966 : 737)

शास्त्रीय राजनीतिक अर्थशास्त्र और औपनिवेशिक शासन की संकीर्ण आर्थिक नीतियों की तीव्र आलोचना ने वह जमीन तैयार की जिस पर एक 'निर्भर औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था' की संकल्पना राष्ट्रवाद के सार्वभौमिक सिद्धांतों के साथ-साथ विकसित हो सकी। रानाडे ने 1890 के दशक के दौरान अर्थव्यवस्था संबंधी अपने लेखन में शास्त्रीय अर्थशास्त्र की अत्यधिक व्यक्तिवादी और विशिष्टवादी होने के लिये आलोचना की। उन्होंने तर्क दिया कि यह ब्रिटेन के विशिष्ट संदर्भ में विकसित हुआ था और सार्वत्रिक रूप से लागू किये जाने योग्य नहीं था। उन्होंने अंग्रेजी अर्थशास्त्रीयों द्वारा अहस्तक्षेप की नीति की आलोचना की क्योंकि यह व्यापक मुद्दों की तरफ देखे बिना विशुद्ध रूप से आर्थिक दृष्टिकोण था। व्यापक संदर्भ में यह शामिल था कि 'राजनीतिक और सामाजिक तत्त्वों को' भी इसमें शामिल किया जाए और 'यदि राजनीतिक अर्थशास्त्र एक विद्वान की तत्त्वमीमांसा से कुछ भी अधिक था' तो इसे लोगों की 'उच्च स्तरीय हितों और आकांक्षाओं' को भी ध्यान में रखना था। शास्त्रीय अर्थशास्त्र के व्यक्तिवाद और अर्थवाद को तभी नियंत्रित किया जा सकता था जब इसे राष्ट्रीय और सामान्य हित के उच्च आदर्शों के अधीन किया जा सके :

'व्यक्तिगत हित वह केंद्र नहीं हैं जिनके इर्द-गिर्द सिद्धांत घूमता रहे..... सच्चा केंद्र वह राजनीति है जिसका व्यक्ति एक सदस्य है और सामूहिक सुरक्षा एवं कल्याण, सामाजिक शिक्षा तथा अनुशासन..... निश्चित रूप से केंद्र होने चाहिए, यदि सिद्धांत को सिर्फ काल्पनिक नहीं होना है।' (गोस्वामी 1998 : 619)

राष्ट्रवादियों की यह इच्छा थी कि उचित राष्ट्रीय आर्थिक नीति का विकास हो जिससे भारतीय हितों की पूर्ति हो सके। ये भारत को आधुनिक औद्योगिक विकास के मार्ग पर लाना चाहते थे। कुल मिलाकर उनका आर्थिक दृष्टिकोण बुर्जुआ था परंतु उन्होंने किसानों और मजदूरों के जन-समूह के लिये भी आवाज उठाई। उनकी सबसे बड़ी उपलब्धि यह थी कि उन्होंने 'भारत के लोगों को उनके आम आर्थिक हितों और उनके शत्रु के अस्तित्व के प्रति सचेत किया और इस प्रकार उन्हें एक साझा राष्ट्रवाद में ढलने में मदद की' (बिपिन चंद्र 1966 : 758)।

## 6.4 सारांश

भारत में आर्थिक राष्ट्रवाद 19वीं शताब्दी के अंतिम तीन दशकों तथा 20वीं शताब्दी के प्रथम दो दशकों में विकसित हुआ। यद्यपि हम इस प्रकार की भावनाओं की इससे पहले भी खासकर 1840 के दशक में सरगर्मी पाते हैं, 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में ही यह पूर्णरूपेण विकसित हो पाया। यह इस बोध पर आधारित था कि ब्रिटिश शासन भारत के आर्थिक हितों के प्रतिकूल है क्योंकि औपनिवेशिक सरकार की आर्थिक नीतियाँ उपनिवेशवादी देश के हितों के प्रति समर्पित था, जो देश था ब्रिटेन। आरंभिक राष्ट्रवादियों ने तर्क दिया कि भारत को उसकी अपनी स्वतंत्र आर्थिक नीतियों की आवश्यकता है जो उसे आधुनिक औद्योगिक विकास के पथ पर अग्रसर कर सकें। उनके पास उपलब्ध प्रत्येक संसाधनों-समाचारपत्र, पत्रिकाएँ, भाषण, किताबें, व्याख्यान और राजनीतिक प्रदर्शन के जरिये उन्होंने लगभग पांच दशकों तक इस विषय पर अभियान चलाया। औपनिवेशिक शासन की इस सम्मिलित आलोचना ने आर्थिक मुद्दों पर राष्ट्रवादी बुद्धिजीवी वर्ग में लगभग एकीकृत मत का निर्माण किया, इसका परिणाम यह था कि भारतीय जनता, खासकर मध्यवर्ग में यह बोध पैदा हुआ

कि भारत एक क्षेत्रीय इकाई था और इसके हित उभयनिष्ठ थे। जैसे-जैसे यह बोध आगे आने वाले वर्षों में बढ़ता गया, भारतीय राष्ट्रवाद की आधारशिला दृढ़ता से रखी गई।

---

## 6.5 अभ्यास

---

- 1) आर्थिक राष्ट्रवाद क्या है? इसके आरंभिक समर्थकों के मतों की चर्चा करें।
- 2) भारत में महत्वपूर्ण राष्ट्रवादी आर्थिक चिंतक कौन थे? उपनिवेशवाद के बारे में वे क्या सोचते थे?
- 3) भारत में आरंभिक राष्ट्रवादियों द्वारा धन की निकासी और भारत में उद्योगों की कमी पर व्यक्त किए गए दृष्टिकोण की चर्चा कीजिए।



# इकाई 7 बौद्धिक एवं सामाजिक क्षेत्र में उपनिवेशवाद का प्रतिरोध\*

## संरचना

- 7.1 प्रस्तावना
- 7.2 औपनिवेशिक स्वांग या नव सांस्कृतिक संवाद
- 7.3 प्रतिरोध के रूप में स्वदेशी बुद्धिजीवियों का सार्वभौमवाद
- 7.4 तर्कवाद और धार्मिक सार्वभौमवाद
- 7.5 सांस्कृतिक-वैचारिक प्रतिरोध तथा प्रारंभिक राष्ट्रवाद
- 7.6 औपनिवेशिक वातावरण में सांस्कृतिक-वैचारिक संघर्ष की सीमाएँ
- 7.7 सारांश
- 7.8 अभ्यास

## 7.1 प्रस्तावना

औपनिवेशिक विजय के लिये कई कारक जिम्मेदार थे। इसमें से कुछ तात्कालिक कारण थे – हथियारों की उन्नत तकनीक तथा सामुद्रिक परिवहन, उपनिवेशवादियों द्वारा लाये गये संक्रामक रोगों के प्रति गैर-यूरोपीय जनता में प्रतिरोधक क्षमता का विकास न होना, जिसके फलस्वरूप गैर-यूरोपीय लोगों की इन रोगों से लड़ने में असफलता, राष्ट्रवाद की उभरती हुई अस्मिताओं के आधार पर यूरोप की मजबूत केन्द्रीकृत राजनीति। हम यह भी जानते हैं कि विजय और उसके परिणाम के रूप में औपनिवेशिक जनता के ऊपर वर्चस्व के फलस्वरूप भूमि के औपनिवेशीकरण से भी औपनिवेशिक संस्कृति और विचारधारा का प्रसार हुआ। औपनिवेशिक सांस्कृतिक विचारों के इस प्रसार की प्रतिक्रियाएँ कई तरह की थीं। एक जिससे हम काफी हद तक परिचित हैं – वह थी स्वदेशी संस्कृति, धर्म और संस्थाओं की शक्तियों और कमजोरियों के बारे में बौद्धिक आत्मपरीक्षण। भारतीय बुद्धिजीवियों ने उपनिवेशवाद का विश्लेषण अपने समाज के संदर्भ में किया। इसकी प्रतिक्रिया मिश्रित और वैविध्यपूर्ण थी। भीखू पारेख इस प्रतिक्रिया को परंपरावादी, आधुनिकतावादी, आलोचनात्मक परंपरावादी और आलोचनात्मक आधुनिकतावादी वर्गों में विभाजित करते हैं। जहाँ परंपरावादियों ने अपनी सांस्कृतिक अतीत और उसकी परंपराओं को सही ठहराया, वहीं दूसरी तरफ बाकी सभी एक या अलग तरह से तात्कालिक सामाजिक संरचना के नए विकल्पों की तलाश की कोशिश में थे। आधुनिकतावादियों का विश्वास था कि भारत की मुक्ति परंपराओं के मूलगामी पुनर्गठन और पश्चिमी ढंग की सोच और तकनीक को ग्रहण करने में है। दूसरे शब्दों में उन्होंने भारत को साम्राज्यवादी शक्तियों के प्रतिबिंब के रूप में निर्मित करना चाहा। आलोचनात्मक परंपरावादियों का स्वदेशी संस्कृति के संसाधनों पर ही भरोसा था। परन्तु पुनरुत्थानशील पश्चिम से कुछ अतिरिक्त और पूरक ऋणों से उन्हें परहेज़ न था। आलोचनात्मक आधुनिकतावादी दो संस्कृतियों देशज और पाश्चात्य के संवाद के हिमायती थे। परन्तु उन्होंने यूरोपियों की 'उन्नत' तर्कसंगत सोच को ज्यादा महत्व दिया। इस इकाई में हम उन कुछ तरीकों और उपायों पर प्रकाश डालने की कोशिश करेंगे जिनके जरिये भारतीय बुद्धिजीवियों ने संस्कृति और विचारधारा के क्षेत्र में उपनिवेशवाद का प्रतिरोध किया।

\*इकाई लेखक : प्रो. श्री कृष्ण

## 7.2 औपनिवेशिक स्वांग या नव सांस्कृतिक संवाद

देशी समाज पर पश्चिम के वैचारिक और सांस्कृतिक प्रभाव के बीच संबंध या अब जिसे विद्वान – 'औपनिवेशिक आधुनिकता' और 'भारतीय पुनर्जागरण' कहते हैं, पर आधुनिक भारत के इतिहासकारों के द्वारा विचार-विमर्श किया गया है। कुछ विद्वान एक प्रकार की प्रोत्साहन-प्रतिक्रिया धारणा में विश्वास रखते हैं और सोचते हैं कि निष्क्रिय एवं तुच्छ भारतीय समाज पश्चिमी ज्ञान के प्रभाव से आधुनिक हुआ। दूसरे शब्दों में, वे तर्क करते हैं कि पश्चिमी सभ्यता की अंग्रेजी शिक्षा और साहित्य, प्रशासनिक व्यवहार, विज्ञान, दर्शन, भौतिक और तकनीकी तत्वों ने भारतीयों को उनकी गहरी निद्रा से जगाने में प्रोत्साहन बल का कार्य किया और उन्हें सामाजिक परिस्थितियों, प्रक्रियाओं और विमर्शों के करीब लाया जो यूरोप में ज्ञानोदय के युग के साथ उभरा। कुछ दूसरे हैं जो इस तर्क का खंडन करते हैं और विश्वास करते हैं कि पश्चिमी विचार और प्रशासनिक व्यवहार अंधविश्वासी और पिछड़े पारंपरिक भारतीय समाज में इतना परिवर्तन नहीं ला सकते। पश्चिमी प्रभाव के परिणाम के रूप में जो भी परिवर्तन हुआ, वह सतही, आंशिक और संदेहपूर्ण था। दूसरा दृष्टिकोण है कि पश्चिमी विचारधारा और सांस्कृतिक व्यवहार जिस भी विकृत और नकली रूप में भारतीय वातावरण में पहुंचे, वह भारतीय समाज के औपनिवेशीकरण के औज़ार थे और यह उन्हीं के ज़रिये था कि भारतीयों ने दिखावटी और आभासी आधुनिकता प्राप्त की। अंग्रेजी विचार और संस्था तथा देशज भारतीय समाज और संस्कृति की मुठभेड़ इन व्याख्याओं से कहीं जटिल थी। यदि हम एंथनी गिडेन्स से आधुनिक समाज, या औद्योगिक सभ्यता के लिए संक्षिप्त रूप में आधुनिकता के विवरण को समझें तो हैं – (1) विश्व के प्रति एक खास नज़रिये, मानव हस्तक्षेप द्वारा परिवर्तन के लिए प्रस्तुत विश्व की धारणा; (2) आर्थिक संस्थाओं की एक समष्टि, विशेषतया औद्योगिक उत्पादन और एक बाज़ार अर्थव्यवस्था; (3) राजनीतिक संस्थाओं की एक निश्चित श्रेणी, राष्ट्र-राज्य और जन लोकतंत्र सहित। मोटे तौर पर इन विशेषताओं के परिणाम के रूप में, आधुनिकता पुराने प्रकारों की समाज व्यवस्थाओं से कहीं ज्यादा गतिशील है। यह एक समाज है— ज्यादा तकनीकी रूप से, संस्थाओं का एक सम्मिश्र, जो, पूर्ववर्ती संस्कृतियों से भिन्न अतीत के बजाय भविष्य में जीता है, तो सहजतः ही इसके प्रति भारतीय प्रतिक्रिया विभिन्न थी। सामान्य अर्थ में, 'स्वांग' एक जाति/नस्ल के दूसरे द्वारा अनुकरण को कहते हैं। वेब्सटर्स न्यू वर्ल्ड कॉलेज डिक्शनरी इस पद को इस प्रकार परिभाषित करती है: "एक जीव का दूसरे से या उस परिवेश में किसी वस्तु से रंग, आकृति या व्यवहार में करीबी साम्य..... यह शिकारियों से जीव को छुपने या रूपपरिवर्तन में मदद करता है।" अनुकरण की प्रक्रिया में जीव का रूपपरिवर्तन (रूप बदलना) इस पद को छद्मावरण के युद्ध साधन के करीब लाता है, जिसका वेब्सटर्स डिक्शनरी के अनुसार तात्पर्य है "रंग, जालियों, या पृष्ठभूमि से मिलती जुलती नमूने की पत्तियों द्वारा शत्रु से छुपाने के लिए सैन्यदल, जहाजों, बंदूकों आदि का रूप परिवर्तन।"

एक प्रसिद्ध आलोचक होमी के. भाभा ने औपनिवेशिक शासकों और उनके औपनिवेशिक प्रजा के बीच की सांस्कृतिक मुठभेड़ को व्याख्यायित करने के लिए स्वांग की संकल्पना का प्रयोग किया है। अनुकरण का प्रभाव एक छद्म आवरण था। यह पृष्ठभूमि के साथ तारतम्य बिठाने का प्रश्न नहीं था, अपितु एक विचित्र पृष्ठभूमि के विरुद्ध था, विचित्र बनना था – ठीक उसी प्रकार जैसे कि मानव युद्ध में छद्म आवरण की तकनीक का प्रयोग किया जाता है। उसने उपनिवेशवादियों को घास में छुपे हुए सांप की तरह देखा जो कि "द्विशाखीय जीभ" से बोलते हैं, और एक ऐसे अनुकरणात्मक प्रतिनिधित्व को प्रस्तुत करते हैं जो "उपनिवेशवादी शक्ति और ज्ञान की प्रमुख मायावी और प्रभावकारी रणनीति के रूप में

सामने आया।" होमी के. भाभा के अनुसार "औपनिवेशिक अनुकरण सुधारवादी, पहचानने योग्य 'अन्य' की इच्छा है, भिन्नता के एक विषय के रूप में, जो कि लगभग समान है परंतु पूरी तरह से नहीं।" वे उन आलोचकों में अग्रगण्य हैं जिन्होंने औपनिवेशिक विमर्श में अंतर्निहित अंतर्विरोधों को बेपर्दा करने की कोशिश की है ताकि उपनिवेशवासी अन्यों के लिये उपनिवेशवादियों के दोहरे मापदंड पर प्रकाश डाल सकें और इसकी प्रतिकूलता पर भी। यह विशुद्ध स्वांग ही था जिसने औपनिवेशिक विमर्श को दोहरी अभिव्यक्ति और द्विशाखी जीभ द्वारा बाधित किया। भाभा का तर्क है कि औपनिवेशिक स्वांग एक रणनीतिक परियोजना थी, जिसका उद्देश्य था एक 'पालतू वर्ग का निर्माण करना, उपनिवेशीकृत प्रजा के प्रतिनिधि बनाना जो कि औपनिवेशिक उपस्थिति और उपनिवेशीकृत लोगों के मध्य बिचौलियों की भूमिका निभा सकें और इस तरह से औपनिवेशिक परियोजना की सहायता कर सकें। परंतु औपनिवेशिक स्वांग का विमर्श इस उभयवृत्ति के चारों तरफ निर्मित था जो कि अंग्रेजीकृत मनुष्य द्वारा किए जा रहे स्वांग और ब्रिटिश औपनिवेशिक शासकों के बीच के अंतर को सुस्पष्ट करता था। उनके अनुसार, स्वांग या अनुकरण सदैव प्रतिनिधित्व के उद्देश्य, जो यह प्रतिनिधित्व करना चाहते हैं और स्वयं प्रतिनिधित्व के बीच एक फिसलन का निर्माण करते हैं तथा यह स्वयं ही औपनिवेशिक शासकों के सभ्य बनाने के मिशन के लिये एक खतरा है क्योंकि स्वांग का रूप प्रतिनिधित्व नहीं करता बल्कि केवल दोहराता है। यह औपनिवेशिक प्रजा की आंशिक उपस्थिति को अपने उभयवृत्त विमर्श के द्वारा जायज़ ठहराता है। तथापि, विभिन्न बौद्धिक धाराओं के आलोचनात्मक निवेशों को इस प्रकार से औपनिवेशिक स्वांग की साधारण धारणा तक सीमित कर देना एक प्रश्नवाचक अनुमान है। भारतीय बुद्धिजीवियों ने उपनिवेशवाद को अपने समाज के संदर्भ में विश्लेषित किया। इसकी प्रतिक्रिया मिश्रित और वैविध्यपूर्ण थी। परिवर्तन की आकांक्षा सिर्फ धर्मनिरपेक्ष और सांस्कृतिक क्षेत्रों में ही नहीं अपितु धार्मिक क्षेत्रों और साहित्यिक-कलात्मक रूपों में भी पैदा हुई। परिवर्तन की आकांक्षा अंदर से आई, इसकी जड़ें देशज थीं, आधुनिकता सिर्फ पश्चिमी मॉडल के विकृत और दुर्बल कैरीकेचर के रूप में ही नहीं आई। भारत में भूतकाल में बाहर से इस प्रकार के सांस्कृतिक मुठभेड़ों के साक्ष्य मिलते थे और इसने अपने इतिहास के शुरुआती दौर में भी बाहरी बौद्धिक और सांस्कृतिक तरीकों को आत्मसात किया था। अंग्रेजी औपनिवेशिक अध्येताओं और प्रशासकों ने भारत की ऐतिहासिकता को एक सारभूत तत्व, प्राचीनता और स्थिरता से परिपूर्ण बताया। इस विश्वास का मूल था एक अपरिवर्तनशील हिन्दुवाद, जब तक इसे बाहरी घटनाओं से भय महसूस न हुआ हो। भारतीय बुद्धिजीवियों ने भारतीय इतिहास और संस्कृति के गतिशील पक्ष पर प्रकाश डाला। यह यथासमय बदलती और टिकाऊ भारतीय सभ्यता में भूत से कुछ पक्षों के चुनाव और नई-नवेली मुठभेड़ कर रही पश्चिमी सभ्यता और ज्ञान की कुछ नई विशेषताओं से प्राप्त नये तत्वों का अवशोषण था। यह सब कुछ एक स्वांग नहीं था परंतु आलोचनात्मक आत्मविश्लेषण की भावना से परिपूर्ण था। जैसा कि एम.जी. रानाडे ने कहा, 'कोई भी पराई कलम पोषित और पल्लवित नहीं हो सकती जब तक कि यह जिस पौधे पर लगाई जानी है, वह पहले अंकुरित हो और अपनी जड़ों को अपनी देशज भूमि में गहरे तक ले जाए। जब पहले से चले आ रहे पेड़ को खाद और पानी दिया जाता है, तभी पराया उर्वरक इसमें स्वाद और सुंदरता ला सकता है।'

उपनिवेशीकृत भारतीयों ने सदैव उन प्राच्यवादियों को संशोधित या परिवर्धित करने की कोशिश नहीं की जिन्होंने भारत की ऐतिहासिकता को आवश्यक, प्राचीन और स्थिर ठहराया था। उन्होंने अपने स्वयं के विस्तृत तरीकों में विमर्श की एक वैकल्पिक भाषा निर्मित करने की कोशिश की। ईश्वरचंद्र विद्यासागर (1820-1891), यद्यपि स्वयं एक संशयवादी थे और पश्चिमी तर्कवादी विचारों से अत्यंत प्रभावित थे, एक परंपरावादी पंडित की तरह रहे और

अपने विरोध को देशज तरीकों से निर्मित किया। उन्होंने *मनुसंहिता* के विरुद्ध जॉन लॉक या डेविड ह्यूम को खड़ा नहीं किया, बल्कि *पराशर सूत्र* को खड़ा किया। ईश्वरचंद विद्यासागर ने एक नई राजनीतिक जनजागृति पैदा करने की कोशिश की जो हिन्दुवाद और उपनिवेशवाद की संयुक्त आलोचनात्मक जागरूकता तथा सांस्कृतिक एवं वैयक्तिक प्रामाणिकता को जोड़ती थी। ईश्वरचंद ने भारतीय महिलाओं के विरुद्ध संस्थागत हिंसा से भी संघर्ष किया, राजनीति के ऊपर सामाजिक सुधार को प्राथमिकता दी। लेकिन उनका हिन्दुवाद का निदान सांस्कृतिक हीनता के भाव से नहीं जन्मा था, ये स्वयं हिन्दुत्व में अंतर्निहित जाने-पहचाने अंतर्विरोधों से जन्मा था। यहां तक कि जब वह भारतीय स्त्री के लिये लड़े, तो उन्होंने पुरुषत्व और स्त्रीत्व के पश्चिमी आदर्शों के आधार पर या सांस्कृतिक विकास के सिद्धांतों पर कार्य नहीं किया। उन्होंने हिन्दुत्व का ईसाईकरण करने से इनकार कर दिया। उन्होंने हिन्दुओं के स्वर्णिमयुग की कल्पना को प्रयोग करना अस्वीकार किया, जिससे तत्कालीन हिन्दु आकृष्ट थे, उन्होंने हिन्दुवाद को पश्चिमी भाव से एक 'विशुद्ध धर्म' के रूप में पढ़ने का विरोध किया, उन्होंने श्रेष्ठ हिन्दुओं का राष्ट्र बनाकर या पाश्चात्य सांस्कृतिक अतिक्रमण के प्रति एक उत्तम प्रतिकारक के रूप में हिन्दुवाद का पक्ष लेकर पश्चिम के साथ हिसाब बैठाना अस्वीकार किया। उनका प्रयास हिन्दुवाद की औपचारिक संरचना को बनाए रखना नहीं, अपितु इसकी आत्मा को बचाना था, उपसंस्कृतियों के एक ऐसे अराजक महासंघ और शाब्दिक प्राधिकारी के रूप में जो कि नवीन पठन और आंतरिक आलोचना की अनुमति दे सके। इस प्रकार, ईश्वरचंद विद्यासागर का उपनिवेशवाद के प्रति प्रतिरोध तर्कवाद के पाश्चात्य संस्करण द्वारा परिभाषित नहीं था। यह अत्यधिक प्रतिक्रियावादी भी नहीं था, यद्यपि उनके रोजमर्रा के जीवनचर्या, जिसमें उनके भारतीय परिधान, पारस्परिक तरीका और खान-पान शामिल थे, के द्वारा यह धारणा बनाने की कोशिश की गई।

औपनिवेशिक शासकों का विचार था कि औपनिवेशिक शोषण जीवन के दर्शन का एक आनुषांगिक और दुखद परिणाम था जो कि राजनीतिक और आर्थिक संगठन के उच्च स्तरीय रूप के साथ सामंजस्य में था। वे महाद्वीप के आकार के एक देश पर प्रभावी रूप से शासन नहीं कर सकते थे यदि वे इस बात को सोचते कि वे लोग नैतिक रूप से अपंग हैं। अतः, उन्होंने अपने सांस्कृतिक रूपों एवं विचारों को सर्वोच्च बनाकर प्रस्तुत किया। उपनिवेशवादियों ने यह दावा किया कि उनकी नीतियां महान उपक्रम हैं और इनका लक्ष्य औपनिवेशिक लोगों को सभ्य करना और उन्हें लाभ पहुंचाना है। साम्राज्य के गुणों पर एक विश्वास उस समय चारों तरफ फैला था। देशज बुद्धिजीवियों में भी असंतोष के कई स्वर थे। उनमें से कुछ ने वैकल्पिक धारणाओं की खोज का प्रयास भी किया जिसके अंदर दमित लोग कमज़ोर, निम्न स्तरीय और विकृत व्यक्ति प्रतीत नहीं होते थे। स्वामी दयानंद सरस्वती (1824-83) और स्वामी विवेकानंद (1863-1902) ने पाश्चात्य दृष्टिकोण से अपने आधारभूत मूल्य उधार लिए, पारंपरिक पुनरुत्थानवादी की छवि के बावजूद वे तात्कालिक हिन्दुवाद के निर्दय आलोचक थे। उन्होंने यह पक्ष भी रखा कि हिन्दू प्राचीन समय में महान, बहादुर और परिपक्व थे तथा उनके बुरे दिन इसलिये आए क्योंकि खुद को मौलिक ब्राह्मणवाद एवं सच्ची क्षत्रियता से दूर कर लिया। अतः विवेकानंद और दयानंद ने भी हिन्दुवाद को ईसाईयत की तरफ ले जाने की कोशिश की, खासकर वांछनीय व्यक्ति के प्रभावी हिन्दू संकल्पना की ओर। ऐसा करते हुए उन्होंने पश्चिम की पहचान शक्ति और वर्चस्व के रूप में की, जिसे उन्होंने एक श्रेष्ठ सभ्यता के रूप में समझा। इसके बाद उन्होंने पश्चिम और भारत के बीच के अंतरों को एकत्र किया और इन अंतरों के आधार पर पश्चिम को श्रेष्ठ माना। उन्होंने अपने जीवन के बाकी दिन अतिशय दुखी हिन्दुओं को यह समझाने में लगा दिए कि पश्चिम के इन सांस्कृतिक मानदंडों का अनुसरण करें। और जैसा कि अपेक्षित था, उन्होंने यह पाया कि हिन्दुत्व में कुछ ऐसी परंपराएँ हैं जो कि मूल्यवान

पाश्चात्य लक्षणों का समर्थन करती हैं, परन्तु वे तत्कालीन 'अयोग्य' हिन्दुओं में खो गई हैं। उनके सुधारवादी हिन्दूवाद के प्रमुख तत्व थे— (i) हिन्दुवाद को संगठित पौरोहित्य, चर्च और मिशनरियों के साथ एक संगठित धर्म में बदलने की कोशिश करना; (ii) शुद्धि के विचार का स्वीकार; (iii) यहूदी पंथों का अनुसरण करते हुए पवित्र पुस्तक की संकल्पना को प्रस्तुत करने की कोशिश (दोनों स्वामियों के मामले में वेद और गीता), और (iv) एकेश्वरवाद तथा एक विशिष्ट विशुद्धिवाद के सदृश विचारों की स्वीकृति और यह सांसारिक तितिक्षावाद आंशिक रूप से कैथोलिक चर्च और कैल्विनवाद से उधार लिया गया था। इन बुद्धिजीवियों द्वारा पश्चिम से प्राप्त ऋण अप्रत्यक्ष था क्योंकि इस प्रकार के बुद्धिजीवी जिन सामाजिक और धार्मिक सुधारों की वकालत कर रहे थे उसके लिये उन्होंने शास्त्रों से समर्थन प्राप्त करने की कोशिश की। उन्होंने सुधारों की आवश्यकता को सिद्ध करने के लिये शास्त्रों से उद्धरण दिये और प्रायः उनका पुनर्विवेचन किया। शास्त्रों के ज्ञान का प्रयोग उन्होंने सुधारों को आगे बढ़ाने के कारणों की आवश्यकता और वांछनीयता के अनुसार किया। उन्होंने शास्त्रों से विचलन को तत्कालीन समय और विवेकवाद के सिद्धांतों के अनुसार पुनर्विवेचित करके सही ठहराया।

पार्थ चटर्जी ने 'घरेलू क्षेत्र' की अपनी संकल्पना में घर को एक 'आध्यात्मिक नैतिक क्षेत्र' के रूप में दर्शाया; एक ऐसा क्षेत्र है जो औपनिवेशिक अतिक्रमण और इसके विस्तृत हो रहे 'सार्वजनिक क्षेत्र' द्वारा विजित नहीं है। घर पर इस 'व्यक्तिगत क्षेत्र' में 'देशज समाज' इसके प्राथमिक निवासियों महिलाओं के ऊपर अपनी संप्रभुता कायम रखते हैं। हम महसूस करते हैं कि पारिवारिक जीवन और इसके रूपों का ऐसा गतिहीन चित्र प्रस्तुत करना स्थानीय शक्ति संरचना में परिवार की केंद्रीय भूमिका की उपेक्षा करना है, जो कि औपनिवेशिक शक्तियों के प्रत्यक्ष और परोक्ष हस्तक्षेप द्वारा उपजी शक्तियों के दबाव से बदल गया। वास्तव में, हम जानते हैं कि परिवार की 'निजता' 19वीं शताब्दी से सार्वजनिक संभाषण की एक चिंता बन गई। परिवार का आभ्यांतर अक्रिय, स्थिर और अडिग नहीं रहा। यह भी सच है कि एक पितृवंशीय और पितृकेंद्रित प्रभुत्व की इकाई के रूप में भारतीय परिवार के पाठ आधारित दृष्टिकोण ने जाति अनुक्रम और पितृसत्तात्मक प्रभुत्व के पुनर्निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई, परन्तु परिवार के रूप में क्षेत्रीय और जातीय विभिन्नताएँ भी थीं। महिलायें एक संगठित, कालातीत और अनिवार्य अन्य के रूप में नहीं थीं। उनका लैंगिक अनुक्रम स्थानीय रूप से अलग-अलग था, अन्य इकाइयों द्वारा मध्यस्थता भी थी। घर का क्षेत्र या इसकी सीमाएँ इसके लिये विस्तृत संस्कृति और नस्लों की राजनीतिक अर्थव्यवस्था, राष्ट्र, लैंगिकता और साम्राज्य द्वारा निर्धारित की गई थीं। भारत (और अन्य पूर्वी) घरों को ब्रिटिशों ने रोग-ग्रस्त, अंधेरे, गंदे स्थान के रूप में चित्रित किया। और इसलिये देशज समाजों के खुद के ऊपर शासन करने की अक्षमता का संकेत करते थे। भारतीयों ने भी खुद को अपने घरों, परिवारों और महिलाओं से अपवर्तित करने से शुरुआत की तथा सुधारकों एवं बुद्धिजीवियों ने महिलाओं के प्रश्नों को सुलझाने में अपनी उर्जा के एक बड़े भाग का निवेश किया।

### 7.3 प्रतिरोध के रूप में स्वदेशी बुद्धिजीवियों का सार्वभौमवाद

सार्वभौमवाद किसी ऐतिहासिक कालक्रम की साम्राज्यवादी इच्छा के साथ मिल जाता है। यह तथ्य शक्ति के साथ इसके असंगत संबंधों पर बल देता है। मार्क्स ने इस प्रकार के सार्वभौमवाद के उदय का संकेत दिया था। एक निरंतर बदलते बाजार की आवश्यकताएँ बुर्जआजी का संपूर्ण पृथ्वी पर पीछा करती हैं। उनके शब्दों में "इसे हर जगह व्यवस्थित होना होगा, चारों तरफ जुड़ाव स्थापित करना होगा.....विश्व बाजार के दोहन के जरिये बुर्जआजी ने प्रत्येक देश के उत्पादन और खपत को एक नया सर्वदेशीय चरित्र दिया.....



व्यक्तिगत राष्ट्रों का व्यक्तिगत निर्माण सामान्य संपत्ति बन गया। राष्ट्रीय एक-पक्षधरता और सीमित मानसिकता अधिकाधिक असंभव हो गई।" जहां विश्व प्रतिद्वंद्वी राष्ट्र-राज्यों से युक्त था, 'दूसरे' को प्रायः डरावने आक्रमण करने योग्य उपनिवेशीकृत करने योग्य, प्रभुत्व स्थापित करने योग्य अथवा उसे दूर रखने योग्य समझा गया। यह अन्य खतरनाक था खासकर वे दूसरे, जो कि गतिशील थे, जैसे सेनाएँ, प्रवासी, आवारे, यात्री आदि, जो कि यात्रा कर सकते थे और एक देश में ठहर सकते थे। बुद्धिजीवी प्रायः वे लोग होते हैं, जो मानसिक स्तर पर गतिशील होते हैं, विभिन्न स्रोतों से विचारों को ग्रहण करते हैं, उन्हें पचाते हैं तथा नये संदर्भ में पूर्णतः नये परिणामों के साथ उन्हें फैला देते हैं। आधुनिक सर्वदेशीय चिंतन की प्रमुख परंपरा गणतांत्रिक राजनीतिक दर्शन को अपेक्षाकृत सीमित आधुनिक गणतंत्र से परे एक विस्तृत और आवश्यक रूप से कानूनी ढांचे में विस्तारित कर देती है। इसके साथ ही विश्व राजनीतिक समुदाय का जन्म हुआ जिसने व्यक्ति को उसके जन्म, रहन-सहन से संबंधित समुदाय के परे विस्तारित कर दिया। इस प्रकार, विश्व बंधुत्व आधुनिक पाश्चात्य चिंतन तथा विश्व शासन के लक्ष्य से परिपूर्ण राजनीतिक योजनाओं से जुड़ गए। फलतः विश्वबंधुत्व ने सामाजिक विश्व के विरुद्ध व्यक्ति के विद्रोह को प्रतिबिंबित किया, अगर विश्व का नागरिक होना था तो विशेषीकृत जुड़ाव वाले, तुरंत दिये गये और बंद विश्व को नकारना था। यह आश्चर्यजनक नहीं था कि यह जनसमूहों की निम्न संस्कृति के विरुद्ध अभिजात वर्ग के विद्रोह से जुड़ गया। प्रादेशिक रूप से प्रदत्त, बंद और राष्ट्र-राज्य से बंधा हुआ सामाजिक विश्व तथा औद्योगिक समाजों की वर्गीय संरचना सर्वदेशीय विचार के खुलेपन, इसके सार्वभौमिक झुकाव के साथ असहज थे। सार्वभौमिकता को एक विशिष्ट और एकल स्थिति के रूप में, जिसका या तो अस्तित्व है या नहीं, एक स्थिति अथवा लक्ष्य, जिसका बोध करना है, के रूप में देखने के बजाय, इसे सामाजिक रूपांतरण के एक ऐसे सामाजिक माध्यम के रूप में देखा जाना चाहिये, जो कि विश्व के खुलेपन के सिद्धांत पर आधारित है, जो कि वैश्विक जनों की धारणा से जुड़ी हुई है। सार्वभौमिकता की प्रभावी संकल्पना को सर्वदेशीय नैतिकता के सार्वभौमवाद पर दिये जाने वाले इसके मजबूत बल की वजह से इसे नैतिक सार्वभौमिकता भी कहा जा सकता है। इसके एक अत्यधिक प्रचलित संस्करण में इसका आधार है वह व्यक्ति जिसकी प्रतिबद्धता सार्वत्रिक मानवीय समुदाय के प्रति है। विश्वबंधुत्व के विचार शैक्षणिक माध्यम के जरिये परोक्ष रूप से आये और भारतीय बुद्धिजीवियों ने तत्कालीन प्रचलित देशज और आयातित पाश्चात्य विचारों को इन वैचारिक चश्मों के जरिये परखने हेतु सार्वत्रिक विवेकवाद और मानववाद की धारणाओं को स्वीकार किया। पूर्वी और पश्चिमी भारत के दोनों छोरों पर पारंपरिक विचारों के साथ-साथ पाश्चात्य विचारों के प्रयोग द्वारा भारतीय बुद्धिजीवियों ने सामाजिक आवश्यकताओं का पुनर्विश्लेषण किया तथा सामाजिक परिवर्तन एवं धार्मिक परंपराओं के सुधार की आवश्यकता को व्यक्त किया। राजा राममोहन राय के योगदान के बारे में हम सब जानते हैं। सतीप्रथा के विरुद्ध उनका प्रसिद्ध दृष्टिकोण शास्त्रों से ज़रूर संदर्भ लेता था परंतु उनका विश्वास सार्वभौमिक तार्किक सिद्धांतों और नैतिकता पर आधारित था। तार्किक मीमांसा के प्रयोग की उत्कंठा जो कि सार्वभौमिक आदर्शों से अवगत थी राजा राममोहन राय के धार्मिक और सामाजिक-सांस्कृतिक मुद्दों पर दिए गए अन्य बयानों में ही स्पष्ट नहीं थी बल्कि दयानंद सरस्वती जैसे व्यक्तियों जिनका मूल शास्त्रों की ओर लौटने और वेदों की अमोघता में विश्वास था, ने भी उन्हें आधुनिक जीवन के तार्किक और उपयोगितावादी पैमानों के प्रकाश में पुनर्विश्लेषित किया। राममोहन राय ने प्राच्यवादी शिक्षा के बजाय पाश्चात्य शिक्षा का समर्थन किया क्योंकि उसमें 'गणित, प्राकृतिक दर्शन, रसायन विज्ञान और शरीर रचना विज्ञान के साथ-साथ अन्य महत्वपूर्ण विज्ञान' शामिल थे। यद्यपि कई बुद्धिजीवियों का प्रमुख लक्ष्य धार्मिक सुधार था परंतु उनमें से कोई भी अपनी प्रकृति में पूर्णतः धार्मिक नहीं था। बल्कि, उसमें से कई जैसे अक्षय कुमार दत्त तथा

विद्यासागर संशयवादी थे, उन्होंने अलौकिक प्रश्नों पर वाद-विवाद की उपेक्षा की। कलकत्ता के हिन्दू कॉलेज में हेनरी लुई विवियन डेरोजियो ने एक अत्यंत आक्रामक तर्कवाद को प्रोत्साहित किया, जिसके परिणामस्वरूप इस कॉलेज के पाश्चात्य शिक्षित युवा विद्यार्थियों ने न सिर्फ किसी धर्म विशेष के अंधविश्वासों को प्रश्नांकित किया अपितु, प्रचलित धारणाओं में शामिल अतार्किकता या अविवेकशीलता पर भी प्रश्न उठाया और उन्होंने विशेष रूप से तर्कवाद की वकालत की। अक्षय कुमार दत्त जिन्होंने 'तत्वबोधिनी' पत्रिका में इसके संपादक के रूप में कई शिक्षाप्रद आलेख लिखे, इसमें उन्होंने प्रकृति और इसके क्रियाकलापों को समझने के लिये तर्कण का सहारा लिया। उन्होंने कोंत के प्रत्यक्षवाद तथा उपयोगितावादी तर्कों का प्रयोग करते हुए भारतीय धर्मों का समाजशास्त्रीय परीक्षण किया। यहां हमें यह ध्यान रखना ज़रूरी है कि तार्किकता अथवा विवेकशीलता वेदांत के भारतीय दर्शन के लिये अपरिचित नहीं थी, बल्कि तथ्यात्मक तर्क भारतीय दर्शन का अभिन्न अंग था। परन्तु अब अक्षय कुमार दत्त जैसे बुद्धिजीवियों ने प्रेक्षण एवं प्रयोगों पर आधारित कारण की पद्धति को समस्त प्राकृतिक परिघटनाओं के कार्यकलापों को समझने और इसे लागू करने की इच्छा हेतु सीखा। इस नये वैज्ञानिक और अनुभवजन्य पद्धति ने उन सुधारवादियों और बुद्धिजीवियों को एक नयी शक्ति दी, जो यह समझने की कोशिश कर रहे थे कि यूरोप की उन्नति और उनके अपने समाज के पिछड़ेपन का क्या कारण है।

## 7.4 तर्कवाद और धार्मिक सार्वभौमवाद

दो महत्वपूर्ण मापदंड जिन्होंने 19वीं शताब्दी के भारत में सुधारवादी आंदोलन का पथ प्रदर्शन किया, वे थे तर्कवाद और धार्मिक सार्वभौमवाद। किसी भी संस्था के सामाजिक असर को तार्किक मूल्यांकन द्वारा परखा गया। अधिकतर सुधारवादियों ने असामान्य अलौकिक व्याख्याओं को खारिज किया। राजा राममोहन राय और अक्षय कुमार दत्त दोनों ने प्राकृतिक परिघटनाओं को प्राकृतिक कारणों से जोड़ा। उन्होंने प्राकृतिक और सामाजिक परिघटनाओं को इस एकमात्र सिद्धांत के ज़रिये परखा कि उसकी दृढ़ता को साबित किया जा सकता है या नहीं। अक्षय कुमार दत्त ने तर्क दिया कि सभी परिघटनाओं को संपूर्ण यांत्रिक प्रक्रिया के रूप में ही समझना चाहिये। इस प्रकार की मनोदशा ने न सिर्फ उन्हें एक तार्किक दृष्टिकोण अपनाने की शक्ति दी बल्कि प्रचलित सामाजिक धार्मिक प्रवृत्तियों की सामाजिक उपयोगिता के दृष्टिकोण से मूल्यांकन करने का सामर्थ्य भी दिया। ब्रह्मसमाज के प्रभावशाली नेताओं ने वेदों की स्थायी प्रभावोत्पादकता का खंडन किया और अलीगढ़ आंदोलन के नेताओं ने आधुनिक समय की आवश्यकताओं के साथ कुरान की शिक्षाओं को जोड़ने की कोशिश की। सुधारवादी जिन सुधारों की वकालत कर रहे थे उनके समर्थन के लिये सदैव उन्होंने धार्मिक शास्त्रों से उद्धरण नहीं दिया। उन्होंने प्रायः अपने कार्यों के लिये समर्थन प्राप्त करने के लिये धर्मनिरपेक्ष परिप्रेक्ष्य को विकसित किया। अक्षय कुमार दत्त ने विधवा पुनर्विवाह का समर्थन करने और बहुविवाह तथा बाल विवाह का विरोध करने हेतु हमेशा प्राचीन उदाहरणों अथवा धार्मिक अनुमोदन का समर्थन नहीं लिया। सुधारवादियों ने अपने दृष्टिकोण को सुदृढ़ करने हेतु आयुर्विज्ञानीय तर्कों का सहारा लिया। पश्चिमी भारत में सुधारवादियों ने सामाजिक सुधार के सहायक के रूप में शास्त्रों का कम सहारा लिया। उदाहरणस्वरूप गोपाल हरि देशमुख, जिनका लोकप्रिय नाम लोकहितवादी था, ने इस पर ध्यान ही नहीं दिया कि धार्मिक शास्त्रों में सुधार की मंजूरी है या नहीं। उनका विश्वास था कि समसामायिक यथार्थ के हिसाब से धर्म को भी बदलना चाहिये। विधवा विवाह के विरोधियों की तीखी आलोचना करते हुए उन्होंने लिखा कि 'विधवापन के लिये बाध्य करना एक जीते-जागते मनुष्य की हत्या है, इसमें मनुष्य के जुनून, एहसास और भावनाओं की हत्या शामिल है। आप अपनी पुत्रियों की क्रूरतम हत्या कर रहे हैं।'

इस बौद्धिक अभ्यास की एक अन्य विशेषता यह थी कि यद्यपि सुधारवादी अपने विशिष्ट धार्मिक समूहों के क्षेत्र के अंतर्गत ही कार्य कर रहे थे, परन्तु उनकी अनुभूति सार्वभौमिक थी। राजा राममोहन राय का विश्वास था कि विभिन्न धर्म सार्वभौमिक नैतिक शिक्षाओं के राष्ट्रीय संस्करण मात्र हैं। उन्होंने ब्रह्मसमाज को एक सार्वभौमिक धर्म के रूप में स्वीकार किया और उभयनिष्ठ अपरिहार्य एकेश्वरवाद का सभी सच्चे धर्मों के सर्वश्रेष्ठ नैतिक सिद्धांत के रूप में बचाव किया। केशवचंद्र सेन ने निम्नलिखित शब्दों में स्पष्ट रूप से इस पर कहा:

‘जो भी प्रतिदिन सच्चे ईश्वर की पूजा करता है, उसे समस्त देशवासियों को भाई की तरह समझना चाहिये। इस प्रकार की सामाजिक व्यवस्था में जाति समाप्त हो जाएगी। अगर मेरा यह विश्वास है कि मेरा ईश्वर एक है और उसी ने हम सबको बनाया है, तो उसी समय मुझे स्वाभाविक रूप से और संपूर्ण प्राकृतिक भावना की गर्मी से, अपने चारों तरफ देखना चाहिये – कि पारसी, हिन्दू, मुस्लिम और यूरोपीय मेरे भाई जैसे हैं।’

## 7.5 सांस्कृतिक – वैचारिक प्रतिरोध तथा प्रारंभिक राष्ट्रवाद

तर्क के साथ-साथ 19वीं शताब्दी के सुधारकों और बुद्धिजीवियों ने न्याय और व्यक्तिगत अंतःकरण के विचार को भी ग्रहण किया। यह औपनिवेशिक भारत में आरंभिक प्रतिरोध को सामाजिक विरोधों से जोड़ने में सहायक रहा। *नील दर्पण* तथा *जमींदार दर्पण* जैसे नाटकों का उत्पादन हुआ। ये विवेकशील प्रतिरोध बाद में आगे चलकर राजनीतिक राष्ट्रवाद में शामिल हो गए जिसका उदाहरण हमें बंकिम के ‘आनंदमठ’ के निर्माण और मातृभूमि के लिये इसके उत्कट प्रेम के स्वर में मिलता है। यद्यपि यह विचार इन कुछ सुधारकों की रचनाओं में स्पर्श तक ही सीमित है परन्तु राष्ट्रवाद के भ्रूण को यहां खोजा जा सकता है। उदाहरणस्वरूप लोकहितवादी ने लिखा :

‘भारत में ब्रिटिश शासन शाश्वत नहीं है; हम भी पश्चिमी विज्ञान और तकनीकी को सीखकर बुद्धिमान बनेंगे और हम अग्रगण्य होने के लिये प्रयास करेंगे और उन्हें उन्हीं के क्षेत्र में पराजित करेंगे। उसके बाद ही हम धीरे-धीरे सत्ता की मांग करेंगे। हमारे असंतोष को समाप्त करने के लिये शायद ब्रिटिश सत्ता का एक अंश हमें दे दें। वे हमें जितनी शक्तियाँ देंगे, वह इसके लिये हमारी भूख को उतना ही तीव्र करेगा और ब्रिटिश शायद हमारी मांगों का विरोध करना शुरू कर देंगे। अगर वे ऐसा करें तो शायद हमें भी वह करना चाहिये जो अमेरिकियों ने किया जब उन्होंने अंग्रेजों को अपनी भूमि से खदेड़ दिया।’

दयानंद सरस्वती का इसी प्रकार का अवलोकन उनकी आंतरिक अशांति को दिखाता है जब उन्होंने कहा कि सर्वाधिक दमनकारी स्वदेशी शासक सर्वाधिक उदार विदेशी शासक से कई गुना अच्छा है। औपनिवेशिक प्रशासकों ने भारतीय पुरुषों का यह कहकर उपहास किया कि वे कमजोर, गैर-लड़ाकू और स्त्रैण हैं। पढ़े-लिखे भारतीयों में भी इसी सोच के इर्द-गिर्द कुछ आत्मालोचन भी था। हम इन विचारों को आरंभिक सामाजिक सुधारों में ढूँढ़ सकते हैं और इस वैचारिक परियोजना में उन्होंने प्रभुत्वकारी पुरुषत्व के विचार का अनुकरण करने की कोशिश की। निःसंदेह उन्होंने कमजोरी दुलमुलेपन और पौरुष की कमी द्वारा पारिभाषित स्त्रीत्व के विरोध में प्रभुत्वकारी पुरुषत्व के मूल्यों को स्थापित किया। इस प्रारंभिक रूप में यह दृष्टिकोण सर्वप्रथम सांस्कृतिक क्षेत्र में अभिव्यक्त हुआ। परन्तु बाद में राष्ट्रवाद का पूर्ण प्रस्फुटित पुष्प बन गया जिसने भारतीयों को पुरुष होने के लिये तथा अपनी मातृभूमि को ब्रिटिशों से मुक्त कराने हेतु ललकारा और यदि आवश्यक हो तो, इसके लिये बल प्रयोग का भी आह्वान किया। स्वामी दयानंद द्वारा की गई बाइबिल की व्याख्या शब्दिक थी और उसके पाठ में अंतर्निहित विभिन्न मिथकों के प्रतीकात्मक प्रकरणों को नहीं

पकड़ पाई। उन्होंने उपभोग और खान-पान के तरीकों के प्रति भी चिंता व्यक्त की तथा शाकाहारवाद की वकालत की और गोरक्षा समितियों का समर्थन किया, तथापि उनकी दलील आर्थिक मूल्यों और उपयोगितावादी तर्कों पर आधारित थी। वेदों के संबंध में दयानंद की कल्पना थी कि वे शाश्वत और सार्वभौमवादी ज्ञान से युक्त हैं और उनका यह विश्वास था कि वे समस्त नैतिक सिद्धांतों और विचारों के स्रोत हैं तथा उनमें आधुनिक वैज्ञानिक सत्य के पूर्वानुमान हैं। इस प्रकार की शाब्दिक रणनीति शायद इस अनुभूति पर आधारित थी कि हिन्दुओं द्वारा आत्मरक्षा में प्रयुक्त विभिन्न शास्त्र ईसाई मिशनरियों के साथ संबंधों में सहजता लाने हेतु उपयोगी नहीं थे। वेदों के लिये एक अलौकिक और अनन्य 'सत्य' के स्तर का दावा करके, हिन्दुत्व जो कि विभिन्न सामाजिक, सांस्कृतिक और कर्मकांडीय आचरणों का ढेर था, वह भी एक तार्किक और 'विश्व' धर्म के स्तर का दावा कर सकता था। ज़ाहिर है, दयानंद सरस्वती का सांस्कृतिक पुनरुत्थानवाद राजनीतिक स्वर लिये था और इसने औपनिवेशिक राज्य द्वारा हड़पे गये सांस्कृतिक क्षेत्र को पुनः पाने की कोशिश की।

स्वामी विवेकानंद जिन्होंने श्रीरामकृष्ण परमहंस की आध्यात्मिक विरासत को अपनाया, ने भी हिन्दू स्वामिमान को दृढ़ करने की कोशिश की। उन्होंने बड़े पैमाने पर 1887-1893 के दौरान संपूर्ण भारत का दौरा किया और आध्यात्मिक उन्नति के अलावा औपनिवेशिक शासन के अंतर्गत जनता की भौतिक दरिद्रता से वे ज्यादा चिंतित हुए। उनके पास रामकृष्ण परमहंस की धार्मिक मानवतावाद की विरासत थी जिसने कोई पंथ या मताग्रह नहीं सिखाया अपितु इसका सर्वोत्कृष्ट लक्ष्य मनुष्य की उन्नति थी। उन्होंने यह घोषणा की कि धर्म भूखे पेट के लिये नहीं है। संस्थागत हिन्दुवाद के अंदर कुलबुला रही कमजोरियों का अनुभव करते हुए, चमकीली अर्थहीन रस्मों तथा पौरोहित्यवाद के दमनकारी तंत्र द्वारा उन्होंने खुद को अपमानित महसूस किया। उन्होंने यह समझ लिया कि सामाजिक असमानताएँ और छद्म धर्म एक दूसरे का लालन-पालन करते हैं और यह भारत के आध्यात्मिक पतन का प्रमुख कारण था। धर्म के सार्थक होने के लिये यह ज़रूरी है कि वह सामूहिक कल्याण के लिए प्रयास करे। उनके लिये धर्म व्यक्तिगत पतन का प्रमुख कारण था। धर्म के सार्थक होने के लिये यह ज़रूरी है कि वह सामूहिक कल्याण के लिए प्रयास करे। उनके लिये धर्म व्यक्तिगत विषय का मामला नहीं था अपितु, एक महत्वपूर्ण सामूहिक प्रसंग था। रस्मों-रिवाजों की रख-रखाव पर होने वाले खर्चों की आलोचना करते हुए उन्होंने मूर्तियों और मंदिरों में होने वाले खर्चों की भी निंदा की जबकि ईश्वर की वास्तविक कृति जीता-जागता मनुष्य भूख और बीमारियों से मर रहा था। आत्मपरीक्षण की शैली में वे पतित हो रहे हिन्दूवाद के प्रति स्व-आलोचक थे परन्तु वे शास्त्रीय हिन्दूवाद के गौरव की पुनर्स्थापना के लिये भी चिंतित थे। उन्होंने मूढ़ पाश्चात्य भौतिकवाद के ऊपर भारतीय आध्यात्मवाद के विजय का दावा करके इसे प्रदर्शित करने की कोशिश की। 1893 में शिकागो की धर्मों की विश्व संसद में दिये गये उनके भाषण से इसकी पुष्टि होती है।

## 7.6 औपनिवेशिक वातावरण में सांस्कृतिक – वैचारिक संघर्ष की सीमाएँ

19वीं शताब्दी में सांस्कृतिक-वैचारिक संघर्ष द्विस्तरीय थे। पहला, पाश्चात्य और देशज संस्कृति के रूपों की बीच की मुठभेड़ ने बुद्धिजीवियों के अंदर सुधारवाद की धुन पैदा करने के साथ-साथ उनकी अपनी संस्कृति के मृतप्राय तत्वों को पुनर्जीवित करने की आवश्यकता उत्पन्न की। इस तरह के सुधारों के उदाहरण पूर्व-औपनिवेशिक भारत में भी समय-समय पर मिलते हैं। अतः बिना जोखिम उठाये यह कहा जा सकता है कि 19वीं शताब्दी के

सुधार और इनकी कार्यसूची सिर्फ पाश्चात्य प्रभावों से उद्दीप्त ही नहीं थी। तथापि, औपनिवेशिक संस्कृति और विचारधारात्मक प्रभुत्व की तीव्र घुसपैठ ने 19वीं शताब्दी के कई सांस्कृतिक प्रयोगों पर अपनी छाप छोड़ी। धार्मिक क्षेत्र में सुधारों ने रीति-रिवाजों और शास्त्रीय ज्ञान के ऊपर मूर्ति पूजा, बहुदेववाद और पुजारियों के नियंत्रण को हटाने की कोशिश की। चूंकि, साक्षरता कुछ लोगों तक ही सीमित थी, अतः सुधारवादियों ने देशी भाषाओं के जरिये अपने विचारों को पहुंचाने के लिए सार्वजनिक प्रचार की तकनीक और मौखिक प्रसार को अपनाया ताकि पुरोहितों के दमन और शोषण के बंधनों को तोड़ा जा सके। इस उद्देश्य से उन्होंने धार्मिक ग्रंथों का देशी भाषाओं में अनुवाद किया और तर्क के प्रकाश में उनकी पुनर्व्याख्या की। तथापि, इन बुद्धिजीवियों के विचारों का प्रभाव लोगों की एक छोटी संख्या तक ही सीमित रहा, खासकर अधिकतर मामलों में वे शिक्षित मध्य वर्ग तक ही पहुंच सके। लोगों की अधिकतर संख्या अभी भी परंपरागत सामाजिक सांस्कृतिक व्यवहारों और जाति अनुक्रम के सिद्धांतों से ही लिपटी रही। परंपराएँ आसानी से समाप्त होने वाली नहीं थी और उन्होंने अपनी रागात्मक आकर्षण को बनाए रखा। औपनिवेशिक सांस्कृतिक प्रभुत्व को चुनौती देने की आरंभिक इच्छा को इस तथ्य में देखा जा सकता है कि सुधारकों में से किसी ने भी पाश्चात्य सांस्कृतिक मानदंडों के अंधानुकरण की वकालत नहीं की, जैसा कि जापान में मेज़ियों की वापसी के बाद आधुनिकता के नाम पर घटित हुआ। सांस्कृतिक क्षेत्र में हुई सभी घुसपैठों को एक या दूसरे बुद्धिजीवी द्वारा चुनौती दी गई। इस सांस्कृतिक सुरक्षा ने पश्चिमी विश्व से आ रही नवीन वैचारिक धाराओं के प्रकाश में पारंपरिक संस्कृति की पुनर्व्याख्या द्वारा, पारंपरिक संस्कृति को एक नया जीवनदान देने की कोशिश की। परन्तु उसी समय हम यह पाते हैं कि अधिकतर बुद्धिजीवियों ने देशी भाषाओं के उपयोग का पक्ष लिया और देशज शिक्षा पद्धति में कुछ एक संशोधनों के साथ एक वैकल्पिक शिक्षा पद्धति पर जोर दिया। उन्होंने भारतीय कला और साहित्य के महत्व पर भी बल दिया, भारतीय भोजन और वस्त्रों को किनारे नहीं लगाया और स्वामी दयानंद तथा विवेकानंद जैसे व्यक्तियों ने अपने धर्मों के प्रमुख सिद्धांतों का बचाव किया। राजा राममोहन राय ने ईसाई मिशनरियों के साथ धार्मिक मुद्दों पर वाद-विवाद किया।

---

## 7.7 सारांश

---

ब्रिटिश औपनिवेशिक शासकों तथा उपनिवेशीकृत भारतीय लोगों के बीच की सांस्कृतिक मुठभेड़ को काफी समय से कथित एक आयामी उत्संस्करण के रूप में देखा जाता रहा है जिसके जरिये भारतीय शिक्षित अभिजात वर्ग ने अंग्रेजी बोलने वाले शासकों के मानदंडों एवं लोकाचारों को आत्मसात किया परन्तु किसी अन्य सांस्कृतिक मुठभेड़ की तरह ही यह उद्दीपन-प्रतिक्रिया की तरह का संबंध नहीं था। अपितु, दोनों पक्षों से चयनात्मक विनियोग के तत्व थे तथापि, विजेता होने की वजह से ब्रिटिशों ने राजनीतिक प्रभुत्व का लाभ लिया। औपनिवेशिक शिक्षा का लक्ष्य प्रभुत्वशाली औपनिवेशिक सांस्कृतिक मानदंडों को संचारित करना था और इस प्रक्रिया में एक ऐसे शिक्षित अभिजात वर्ग का निर्माण करना था, जो शासकों और शासित के बीच बिचौलियों का कार्य कर सकें, और इस प्रकार भारतीयों को कार्य और सामाजिक संबंधों की यूरोपीय संकल्पना में फिट करना था। ब्रिटिशों के इन सांस्कृतिक साम्राज्यवादी लक्ष्यों को 19वीं शताब्दी के भारतीय सुधारकों और बुद्धिजीवियों द्वारा चुनौती दी गई। यद्यपि भारतीय बुद्धिजीवियों और सुधारकों ने इस प्रकार की अनोखी सांस्कृतिक मुठभेड़ में द्वैत भाव का प्रदर्शन किया, उन्होंने कभी भी अंधाधुंध अनुकरण की रणनीति नहीं अपनाई। यह इकाई स्वदेशी बुद्धिजीवियों द्वारा इस प्रकार के प्रतिरोध के कुछ महत्वपूर्ण पक्षों पर प्रकाश डालती है।

---

## 7.8 अभ्यास

---

- 1) औपनिवेशिक सांस्कृतिक प्रभुत्व के विरुद्ध आरंभिक भारतीय बुद्धिजीवियों द्वारा विकसित सांस्कृतिक प्रतिरोध के प्रमुख रूपों की चर्चा कीजिये।
- 2) आरंभिक सांस्कृतिक वैचारिक प्रतिरोध राष्ट्रवाद से किस प्रकार संबंधित था?
- 3) औपनिवेशिक स्थिति में सांस्कृतिक वैचारिक प्रतिरोध की सीमाएँ क्या थीं?



---

# इकाई 8 उग्र एवं जन आधारित राजनीति की ओर— स्वदेशी आंदोलन\*

---

## संरचना

- 8.1 प्रस्तावना
- 8.2 पृष्ठभूमि
- 8.3 बंगाल का विभाजन
- 8.4 स्वदेशी आंदोलन
- 8.5 हिंसा का रास्ता
- 8.6 स्वदेशी आंदोलन का प्रभाव
- 8.7 सारांश
- 8.8 अभ्यास

---

### 8.1 प्रस्तावना

---

19वीं सदी के अवसान के समय उदारवादी राजनीति के पतन ने कांग्रेस के भीतर एक प्रतिक्रिया को जन्म दिया और परिणामस्वरूप राष्ट्रवादी राजनीति में गरमपंथी धारा का आविर्भाव हुआ। उदारवादियों की उनकी भिक्षुकवृत्ति की राजनीति के लिये आलोचना हुई। वास्तव में, गरमपंथी राजनीति ने मुख्य क्षेत्रों बंगाल में बिपिनचंद्रपाल, महाराष्ट्र में बालगंगाधर तिलक और पंजाब में लाला लाजपत राय के नेतृत्व में प्रसिद्धि हासिल की। लेकिन अन्य क्षेत्रों में गरमपंथ यदि पूरी तरह अनुपस्थित नहीं तो, कम शक्तिशाली था। इस इकाई में हम स्वदेशी आंदोलन के अवसान के बाद क्रांतिकारी आंदोलन के उदय की चर्चा भी करेंगे।

---

### 8.2 पृष्ठभूमि

---

गरमपंथ के उदय के कई कारण थे। कुछ इतिहासकारों के मतानुसार यह भारत में प्रत्येक संगठित राजनीतिक जीवन में प्रमुख हो चुकी आपसी टकराव से पैदा हुआ। जहां बंगाल में एक तरफ सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, तो दूसरी तरफ ज्यादा उग्र मोतीलाल घोष के बीच तनातनी थी, एक तरफ अरविंदो घोष तो दूसरी तरफ बिपिनचंद्र पाल और ब्रह्मबांधव उपाध्याय के गुट में भी तनातनी थी। महाराष्ट्र में पूना सार्वजनिक सभा पर नियंत्रण स्थापित करने के लिये गोखले और तिलक के बीच प्रतिस्पर्धा थी। मद्रास में तीन गुट—मायलापोर गुट, एगमॉर गुट और उपनगरीय अभिजात्य वर्ग आधिपत्य कायम करने हेतु एक दूसरे से धींगा—मुश्ती कर रहे थे। पंजाब में इसके संस्थापक दयानंद सरस्वती की मृत्यु के पश्चात आर्यसमाज उदारवादी कॉलेज समूह और उग्र पुनरुत्थानवादी समूह में बंट चुका था। इस अर्थ में कांग्रेस में नरमपंथियों और गरमपंथियों के बीच की फूट भारतीय सार्वजनिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में देखी जा सकती थी।

परन्तु गरमपंथ के इस आविर्भाव की सिर्फ गुटबंदी के आधार पर व्याख्या नहीं की जा सकती। उदारवादी राजनीति से लोगों के बीच भारी कूटा का निर्माण हुआ था। कांग्रेस

---

\*इकाई लेखक : डॉ. राजशेखर बसु

उदारवादी नेतृत्व के अंतर्गत एकपक्षीय संविधान द्वारा संचालित की जा रही थी, यद्यपि तिलक के लगातार प्रयासों से 1899 में एक नये संविधान का मसौदा बना और उसकी पुष्टि हुई, परंतु इसकी पूरी आजमाइश कभी नहीं हुई। कांग्रेस खुद आर्थिक संकट से घिरी थी क्योंकि पूंजीवादियों ने कोई योगदान नहीं किया था तथा राजाओं और भू-स्वामी अभिजात्य वर्ग द्वारा दी जा रही सहायता पर्याप्त नहीं थी। इसी समय पश्चिम के उदारवाद से प्रेरित होकर नरमपंथियों द्वारा सामाजिक सुधार का उत्साह लोकप्रिय रूढ़िवादी परंपरा का विरोधी प्रतीत हुआ। 1895 की पूना कांग्रेस के दौरान यह सतह पर आया, जब नरमपंथियों ने कांग्रेस के नियमित परिपाटी के साथ-साथ एक राष्ट्रीय सामाजिक सम्मेलन का प्रस्ताव पेश किया। तिलक जैसे परंपरावादी नेताओं ने यह तर्क दिया कि सामाजिक सम्मेलन अंततोगत्वा कांग्रेस को विभाजित कर देगा और अंततः प्रस्ताव का मसौदा तैयार हुआ। तथापि, तब तक उदारवादी राजनीति अपने अंत को पहुंच चुकी थी और उनकी अधिकतर माँगें अपूर्ण रहीं। आखिरकार गरमपंथ के उदय के पीछे इसने एक महत्वपूर्ण कारक का काम किया। तथापि, औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध क्रोध को नरमपंथियों ने आर्थिक राष्ट्रवाद की अपनी समालोचना द्वारा ईंधन प्रदान किया। कर्जन के प्रशासन की नीतियों ने भी राष्ट्रवादियों के क्रोध को और बढ़ाया। लॉर्ड कर्जन निरंकुश उपनिवेशवाद में विश्वास रखता था, जिसकी वकालत 19वीं सदी के अंतिम दशकों में फिट्ज्जेम्स स्टीफेंस और लिटन स्ट्राची जैसे विचारकों ने की। कर्जन कलकत्ता नगरपालिका संघोधन अधिनियम 1899 के ज़रिये कलकत्ता कॉरपोरेशन के पुनर्गठन के लिये भी उत्तरदायी था, जिसके तहत इसके अंदर चुने गये प्रतिनिधियों की संख्या कम कर दी गई। कर्जन द्वारा जिस भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम को अनुमोदित किया गया था, उसके अंतर्गत कलकत्ता विश्वविद्यालय को पूर्णरूपेण सरकार के नियंत्रण में ले लिया गया। इसके साथ-साथ 1904 के भारतीय आधिकारिक खुफिया संशोधन अधिनियम में प्रेस की स्वतंत्रता पर भी पाबंदियां लगा दी गईं।

### 8.3 बंगाल का विभाजन

तथापि, कर्जन का दमनकारी शासनकाल मुख्य रूप से बंगाल का विभाजन करने के उसके निर्णय से जुड़ा है, जो स्पष्ट रूप से कांग्रेस को नियंत्रित कर रहे बंगाल राष्ट्रवादियों को कमजोर करने के उद्देश्य से किया गया था। परंतु कांग्रेस को कमजोर करने के बजाय कर्जन के कृत्यों ने गरमपंथी नेताओं को यह अवसर दे दिया कि वे कांग्रेस पर नियंत्रण स्थापित कर सकें, और इस प्रकार, इन्हें औपनिवेशिक शासन के साथ सीधी टक्कर के रास्ते पर डाल दिया। बंगाल के विभाजन ने राष्ट्रवादी राजनीति को उग्रपंथी बना डाला जिसको विनती और याचिका रूपी निष्क्रिय प्रतिरोध के विपरीत प्रदर्शन के नये तरीकों के रूप में देखा गया। इसका अर्थ था औपनिवेशिक शासन के अन्यायपूर्ण कानूनों को तोड़ना, ब्रिटिश वस्तुओं और संस्थानों का बहिष्कार करना तथा स्वदेशी और राष्ट्रीय शिक्षा जैसे देशज विकल्पों का विकास। इस नई राजनीति की वैचारिक प्रेरणा प्राच्यवादियों द्वारा प्रभावित पुनरुत्थानवादी विमर्श से ग्रहण की गई। स्वदेशी आंदोलन जो कि बंगाल तथा भारत के अन्य भागों में अत्यंत ही लोकप्रिय हुआ, वह भूतकालीन स्वर्णिम युग की कल्पना पर आधारित था और इसमें पुनर्निर्मित इतिहास से प्राप्त प्रतीकों का प्रयोग राष्ट्रवादी भावनाओं को उभारने के लिए किया। यह उपनिवेशवाद के लैंगिक विमर्श के विरुद्ध प्रतिक्रिया थी जिसमें पुरुषत्व और राजनीतिक प्रभुत्व के बीच संबंध स्थापित करने की कोशिश की थी। तत्पश्चात्, इसने राष्ट्रवादियों के एक भाग को काल्पनिक आर्य युग के क्षात्र धर्म से अपनी पौरुषता को पुनः प्राप्त करने की प्रेरणा दी। कई जगहों पर ऐतिहासिक चरित्रों को राष्ट्रनायकों के रूप में प्रस्तुत किया गया। तिलक ने महाराष्ट्र में शिवाजी उत्सव की



शुरुआत की जो कि स्वदेशी आंदोलन के दौर में बंगाल में भी प्रसिद्ध हो गया। वास्तव में, स्वदेशी आंदोलन की वकालत करने वाले लोग विवेकानंद द्वारा प्रस्तुत 'वैकल्पिक पौरुष' के विचार से भी प्रभावित थे, जिसमें आधुनिकता की पाश्चात्य अवधारणा को ब्राह्मणवादी परंपरा में स्थित वैराग्य के आध्यात्मिक गुणगान से जोड़ दिया गया। तत्पश्चात, अत्यंत ही उत्साह और संघर्ष की बलवती इच्छा के साथ एक शारीरिक सांस्कृतिक आंदोलन बंगाल के विभिन्न भागों में शुरू हुआ, जो कि स्पष्ट रूप से शारीरिक वीरता को पाना चाहता था परंतु ज्यादा बल आध्यात्मिक शक्ति और स्व-नियंत्रण पर ही रहा, जो कि पश्चिम की पुरुषत्व की धारणा की विशेषता थी।

स्वदेशी आंदोलन 1905 में कर्जन द्वारा किए गए बंगाल के विभाजन के विरुद्ध एक प्रदर्शन के रूप में शुरू हुआ। औपनिवेशिक नौकरशाही ने इस निर्णय का बचाव करते हुए कहा कि बंगाल प्रेसीडेंसी के क्षेत्रीय विस्तार और भाषिक विभिन्नता की वजह से उपजे प्रशासनिक चुनौतियों से निपटने के लिए बंगाल को दो भागों में बाँटना जरूरी है। तथापि, असम के हितों की रक्षा करना ही औपनिवेशिक राज्य के इस नीतिगत निर्णय के पीछे का प्रमुख कारण प्रतीत होता था। 1897 में लुसाई हिल्स को रूपांतरित किया गया; असम लेफ्टिनेंट गवर्नर का प्रांत नहीं बना। जब लॉर्ड कर्जन भारत आया तो वह 1900 में एक यात्रा पर असम गया। उसकी यात्रा के दौरान योजना की पुनर्समीक्षा की गई तथा यूरोपीय चायबगान के मालिकों ने असम बंगाल रेलवे पर अपनी निर्भरता को कम करने के लिए कलकत्ता के नजदीक एक समुद्री आउटलेट को तरजीह दी। कर्जन ने मई-जून 1903 में अपने भारत के क्षेत्रीय पुनर्वितरण मिनट्स में एक योजना बनाई जो बाद में दिसंबर 1903 के रिजले पेपर्स में प्रकाशित हुआ। इस योजना के तहत चिटगांग प्रभाग को ढाका में, मैमन सिंह को असम को, छोटा नागपुर को केंद्रीय प्रांतों को देने की योजना थी। इसके बदले में बंगाल को संबलपुर तथा केंद्रीय प्रांतों की कुछ जागीरें तथा गंजम जिला और मद्रास के वाइजापट्टनम के कुछ इलाके मिलने थे। अगले कुछ महीनों में जिलों के स्थानांतरण की सूची को लंबा करते हुए चोरी-छुपे इस योजना को आगे बढ़ाया गया। अंतिम योजना कर्जन द्वारा राज्य सचिव ब्रोडरिक को 2 फरवरी, 1905 को भेजे गए डिस्पैच में सन्निहित थी, जिन्होंने इसे 19 जुलाई को बिना किसी समुचित संसदीय बहस के झिझकते हुए स्वीकार कर लिया, अंतिम रूप से बंगाल के विभाजन की घोषणा कर दी गई तथा 3 महीने बाद 16 अक्टूबर को इसे लागू कर दिया गया। पूर्वी बंगाल और असम के नाम से एक नया प्रांत बना जिसमें चिटगांग, ढाका और राजशाही प्रभाग के साथ-साथ हिल टिपेरा, माल्दा और असम के सभी जिले शामिल थे।

वास्तव में, यह औपनिवेशिक नौकरशाही की बांग्ला विरोधी मानसिकता थी, जिसे कर्जन ने वायसराय बनने के पहले ही स्वीकार कर लिया था। इस कार्य के पीछे राजनीतिक रूप से प्रखर इस समुदाय को कमजोर करने की इच्छा कार्य कर रही थी। कर्जन का विश्वास था कि विभाजन उस बंगाली भद्रलोक के प्रभुत्व को नष्ट कर देगा जो कि भू-स्वामी, धनिक, पेशेवर तथा लिपिक वर्ग से निर्मित था और जिसमें मुख्यतः तीन उच्च जातियों ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैद्य की प्रमुखता थी। इन जातियों ने दूसरे सभी वर्गों को लगभग बाहर रखते हुए शिक्षा और रोजगार पर एकाधिकार जमा रखा था और यह उनकी राजनीतिक शक्ति का मुख्य स्रोत था। इसलिये कर्जन का विश्वास था कि भद्रलोक के इस प्रभुत्व को तोड़ने के लिये औपनिवेशिक नौकरशाही द्वारा अन्य समुदायों की भाषिक पहचान को महत्व दिया जाय। उसी समय, कर्जन ने पूर्वी बंगाल प्रांत का निर्माण करके इस भाग में रहने वाले बहुसंख्यक मुस्लिमों और अल्पसंख्यक हिन्दुओं की जनसंख्या के बीच भेद-भाव के बीज को उभारने की कोशिश की। फरवरी 1904 में, ढाका में अपने दिये गये भाषण में कर्जन ने स्पष्टतया यह कहा कि नवनिर्मित पूर्वी बंगाल प्रांत जिसकी राजधानी ढाका थी, को

निर्मित करने का उद्देश्य यह है कि मुस्लिम उस एकता का लुप्त उठा सकें, जैसा वे पुराने मुस्लिम शासन के दौरान उठाया करते थे।

## 8.4 स्वदेशी आंदोलन

तथापि विभाजन ने बंगालियों में भेद-भाव पैदा करने के बजाय विभाजन विरोधी प्रदर्शनों के ज़रिये उन्हें और एकजुट कर दिया। कर्जन के प्रशासन ने इस बात को अनदेखा किया कि बंगाल में सीमित हित समूह, वर्ग और क्षेत्रीय बाधाओं से ऊपर उठकर एक बंगाली अस्मिता का उदय हो रहा था। भौगोलिक गतिशीलता तथा आधुनिक संचार के विकास ने भी क्लैटिज एकात्मकता को बढ़ाया। बंगाल की अर्थव्यवस्था की निराशाजनक अवस्था ने भी परिवर्तनशील स्थिति को निर्मित किया। दैवीय ब्रिटिश जुड़ाव में लोगों की आस्था भी हिल गई। पढ़े लिखे बंगालियों के लिये अवसरों के कम होने तथा लगातार खराब मौसम की स्थिति ने बीसवीं शताब्दी की शुरुआत में मध्य वर्ग के लिये जीवन को अत्यंत दयनीय बना डाला। रजत राय का तर्क है कि कलकत्ता के नेताओं और पूर्वी बंगाल में उनसे सहानुभूति रखने वाले लोगों के राजनैतिक गठजोड़ पर आधारित स्वदेशी समुच्चय ने बंगाली समाज की राजनीतिक संरचना में एक क्रांति पैदा कर दी। विभाजन के विरुद्ध प्रदर्शन 1903 में शुरू हुए, परन्तु 1905 में विभाजन की आधिकारिक घोषणा और इसे लागू किए जाने के उपरांत ये और मजबूत हो गए। प्रारंभ में इनका लक्ष्य था विभाजन को निरस्त कराना परन्तु जल्द ही यह एक विस्तृत आंदोलन के रूप में परिवर्तित हो गया जिसे स्वदेशी आंदोलन के नाम से जाना जाता है। स्वयं स्वदेशी आंदोलन में राजनीतिक और सामाजिक मुद्दों की एक लंबी श्रेणी शामिल थी। सुमित सरकार ने स्वदेशी आंदोलन की चार प्रमुख प्रवृत्तियों की पहचान की है, मुख्यतः नरमपंथी प्रवृत्ति, रचनात्मक स्वदेशी, राजनीतिक गरमपंथ, और क्रांतिकारी राष्ट्रवाद। सरकार के मत में उस काल के दौरान ये सभी प्रवृत्तियाँ कमोबेश उपस्थित थीं।

1903 में जब विभाजन की घोषणा की गई थी, तभी से नरमपंथियों ने विभाजन की योजना का विरोध करना शुरू कर दिया, प्रारंभ में उन्होंने सोचा कि ब्रिटिश याचिकाओं, प्रार्थनाओं और जन-सभाओं द्वारा प्रस्तुत किए गए उनके तर्कों को स्वीकार कर लेंगे। परन्तु ये प्रयास असफल रहे तथा 1905 में जब विभाजन की घोषणा हुई, तो सबसे पहले इन्होंने ही व्यापक स्वदेशी आंदोलन का खाका खींचा। 17 जुलाई 1905 को सुरेंद्रनाथ बनर्जी ने कलकत्ता में एक सभा के दौरान ब्रिटिश वस्तुओं और संस्थाओं के बहिष्कार का नारा दिया, 7 अगस्त को कलकत्ता टाउनहाल में आयोजित एक अन्य विराट सभा में बहिष्कार हेतु एक औपचारिक प्रस्ताव पास किया गया, जो स्वदेशी आंदोलन की शुरुआत का द्योतक था। वास्तव में, ऐसा पहली बार था कि नरमपंथी शिक्षित बंगाली वर्ग के अलावा समाज के अन्य वर्गों को भी लामबंद करने की कोशिश कर रहे थे। वास्तव में, यह स्पष्ट करता है कि कुछ नरमपंथी नेता मजदूरों की हड़ताल में क्यों शामिल थे। इसी समय स्वदेशी आंदोलन के नेताओं ने आत्मनिर्भरता, ग्राम्य स्तरीय संगठन तथा रचनात्मक कार्यों पर जोर दिया ताकि देशज या स्वदेशी ब्रांडों का विकास किया जाय जो विदेशी वस्तुओं का विकल्प बन सकें। उसी समय औपनिवेशिक संस्थानों के विकल्प के तौर पर लोगों को शिक्षा देने के लिए राष्ट्रीय संस्थानों की स्थापना की गई। सरकार का तर्क है कि 1905 में दिख रही दो प्रमुख धाराएँ थीं – विकसित उद्यमों पर भरपूर बल देना हुआ गैर-राजनीतिक रचनात्मक स्वदेशी और प्रतिरोध पर प्रमुख बल देना हुआ राजनीतिक गरमपंथ।

प्रारंभिक काल में बंगाली गरमपंथ ही रचनात्मक स्वदेशी के कार्यक्रम की तरफ अधिक आकर्षित थे। इस कार्यक्रम में शामिल था रोजमर्रा की आवश्यकता की वस्तुओं का निर्माण, राष्ट्रीय शिक्षा, पंचायती न्यायालय और ग्रामीण संगठन। स्वदेशी आंदोलन के काफी पहले

1890 के दशक के दौरान स्वदेशी उद्यमों पर जोर था, जो बंगाल केमिकल्स जैसी कंपनियों की स्थापना से परिलक्षित होता है। 1901 में चीनी मिट्टी के बर्तन बनाने के लिये एक अन्य कारखाने की स्थापना हुई। सतीशचंद्र मुखर्जी जैसे लोगों द्वारा राष्ट्रीय शिक्षा आंदोलन का नेतृत्व किया गया, मुखर्जी ने कलकत्ता में भागवत चतुष्पटी और डॉन सोसायटी की स्थापना की। ब्रम्हबांधव उपाध्याय ने सारस्वत आयतन तथा रवींद्रनाथ टैगोर ने शांतिनिकेतन आश्रम की स्थापना की। आत्मशुद्धि अथवा स्व-सशक्तिकरण के सिद्धांतों पर आधारित गैर-राजनीतिक रचनात्मक कार्यक्रमों पर बल दिया जाना कुछ मामलों में धार्मिक पुनरुत्थान से भी जुड़ा था। स्वदेशी आंदोलन के नेताओं के एक भाग का यह मानना था कि हिन्दुवाद वास्तव में संपूर्ण देश को एक करने हेतु एक मंच मुहैया करा सकता है। रवींद्रनाथ टैगोर की 1901 से 1906 के बीच की रचनाओं में भी पुनरुत्थानवादी प्रभाव था। 1904 में दिए गए उनके वक्तव्य 'स्वदेशी समाज' में टैगोर ने आत्मशक्ति के अर्थ का उल्लेख किया और इसने बाद में बंगाल में स्वदेशी उद्यमों की लोकप्रियता को प्रभावित किया। 1906 में बंगाल नेशनल कॉलेज और स्कूल की स्थापना से राष्ट्रीय शिक्षा को गति मिली। बखेरगंज में स्वदेशी बांधव समिति ने भी स्थानीय विवादों के निपटारे हेतु पंचायतों का आयोजन किया।

तथापि, 1906 तक गरमपंथी यह तर्क देने लगे थे कि स्वतंत्रता के बिना राष्ट्रीय जीवन के उत्थान की तरफ कोई कदम नहीं उठाया जा सकता। जल्द ही यह आंदोलन एक नये चरण में प्रवेश कर गया और यह पूर्ण स्वतंत्रता अथवा स्वराज के नारों का समर्थन करने लगा। गरमपंथियों ने ब्रिटिश वस्तुओं तथा संस्थानों के बहिष्कार, देशज विकल्पों के विकास, अन्यायपूर्ण कानूनों के उल्लंघन और यदि ज़रूरी हो तो औपनिवेशिक राज्य के दमन के विरुद्ध हिंसक आंदोलनों का समर्थन किया। इस प्रकार, सरकार ने यह तर्क दिया है कि स्वदेशी आंदोलन ने हिंसा के उपयोग के अपवाद के अलावा गांधीवादी कार्यक्रमों में अंतर्निहित रणनीतियों का ही अधिकाधिक प्रयोग किया। अरविन्दो घोष जैसे गरमपंथी नेता व्यापक जनसमूह की लामबंदी के महत्व से परिचित थे और इसलिये उन्होंने जनता तक पहुंचने के एक अभिकरण के रूप में धर्म का प्रयोग किया। इस राजनीति को धार्मिक पुनरुत्थानवाद ने एक नया आयाम दिया। *भगवद्गीता* ने स्वदेशी स्वयंसेवकों की आध्यात्मिक प्रेरणा के एक स्रोत के रूप में कार्य किया। इतिहासकारों ने इस ओर इशारा किया है कि हिन्दू धर्म के प्रतीकों और शाक्त छाया-चित्रों का जनसमूह को लामबंद करने के लिये अक्सर प्रयोग किया गया। परन्तु, इन घटनाओं का मुस्लिम जनसमूह और निम्न जातीय वैष्णव किसानों के मस्तिष्क पर भी प्रभाव पड़ा। शायद ये घटनाएँ स्वदेशी आंदोलन से मुसलमानों के अलगाव के कारणों की व्याख्या करती हैं।

स्वदेशी आंदोलन के दौरान समितियों के द्वारा भी जनसमूहों की लामबंदी हुई। पांच प्रमुख समितियों के आरंभ के पहले इस तरह के संगठन स्वदेशी संदेश, स्वदेशी शिल्प, शिक्षा और मध्यस्थ न्यायालय के प्रचार से जुड़े थे। किन्तु व्यापक जनसमूह की लामबंदी के कार्यक्रम असफल हो गये क्योंकि ये समितियाँ शिक्षित बंगाली हिन्दू भद्रलोक की सीमा से बाहर अपनी गतिविधियों का विस्तार करने में रुचि नहीं रखती थी। उच्चजातीय हिन्दू नेतृत्व, जो कि मुख्यतः भू-स्वामी वर्ग से आता था, ने निम्नजातीय किसानों को और विलगित कर दिया जो उनकी बलप्रयोग से डरते थे। स्वदेशी नेताओं ने अनिच्छुक प्रतिभागियों के मध्य सहमति प्रस्तुत करने के उद्देश्य से सामाजिक प्रतिरोध और सामाजिक बहिष्कार के उपकरणों का प्रयोग किया। साधारण जनसमूह के बड़े भाग की अनिच्छा को अभिजात नेताओं की अभिरुचियों से व्याख्यायित किया जा सकता है। इन्होंने उन स्वदेशी विकल्पों की खरीद को मुश्किल पाया जो विदेशी वस्तुओं से महंगी थीं। यदि शिक्षा के स्तर पर भी देखें तो सरकार द्वारा चलाये जा रहे संस्थानों की तुलना में राष्ट्रीय विद्यालयों की संख्या काफी कम थी। जैसा कि शेखर बंधोपाध्याय ने इंगित किया है, बंगाल के निम्नजातीय किसान वर्ग जैसे

राजबंसी और नामशूद्र ने भी सामाजिक गतिशीलता और आत्म सम्मान की धारणा के आधार पर जिसे स्वदेशी आंदोलन के नेता अपने कार्यक्रमों में शामिल करने में सफल नहीं हो पाए थे, अपनी खुद की अस्मिता विकसित करनी आरंभ कर दी थी। स्वदेशी स्वयंसेवकों ने विदेशी कंपनियों में कार्यरत कर्मचारियों को भी लामबंद करने की कोशिश की। परन्तु वे सिर्फ व्हाइट कॉलर कर्मचारियों तक ही पहुंच पाए, जबकि पूर्वी भारत और उत्तरी भारत के अन्य भागों से गए प्रवासी श्रमिक अछूते ही रहे। यह संभवतः बहिष्कार आंदोलन की असफलता का एक प्रमुख कारण था। 1908 तक राजनीतिक उग्रपंथ कमजोर पड़ गया और इसके उपरांत क्रांतिकारी राष्ट्रवाद के एक और अधिक उग्र चरण की शुरुआत हुई। 1907 के सूरत विभाजन ने निश्चित रूप से इन परिवर्तनों को हवा दी, उदारवादी माने जाने वाले नेताओं जैसे— फिरोजशाह मेहता, दिन्शा वाचा और गोपालकृष्ण गोखले ने उग्रपंथी गतिविधियों के ऊपर शंका व्यक्त की। वास्तव में एक अत्यंत ही प्रसिद्ध गरमपंथी नेता लाला लाजपत राय ने नियंत्रित नीति का पक्ष लिया और नरमपंथियों और गरमपंथियों के बीच सुलह की कोशिश की। परन्तु बंगाल में स्वदेशी आंदोलन द्वारा पैदा हुए उग्रपंथ ने अखिल भारतीय स्तर पर कांग्रेस की राजनीति को एक नया मोड़ दे दिया।

1907 में कांग्रेस का अधिवेशन पूना में होना था, जो कि गरमपंथी राजनीति का गढ़ था, इसे नरमपंथी नेताओं ने गड़बड़ियों से बचने के लिए सूरत स्थानांतरित कर दिया। गरमपंथियों द्वारा कांग्रेस अध्यक्ष पद के लिये लाला लाजपत राय के नाम का प्रस्ताव किया गया, जबकि नरमपंथियों के प्रत्याशी थे— रासबिहारी घोष, परन्तु लाला लाजपत राय विभाजन नहीं चाहते थे और उन्होंने अपने नामकरण को अस्वीकृत कर दिया, फलस्वरूप दोनों विरोधी समूहों के बीच की लड़ाई कलकत्ता अधिवेशन में पारित किए गए चार प्रस्तावों को बनाए रखने या निरस्त करने पर केंद्रित हो गई। इस समय तक सुरेंद्रनाथ बनर्जी तथा अरविंदो घोष के मतभेद इस स्तर तक बढ़ चुके थे कि अब उनमें सामंजस्य स्थापित नहीं हो सका, यही गोखले और तिलक के बीच भी घटित हुआ। सूरत के अधिवेशन में रासबिहारी घोष के चुनाव के झगड़े के बीच जूते चले, कुर्सियाँ फेंकी गईं और लोग बचाव के लिए इधर—उधर भागे। इस घटना के बाद तिलक की इच्छा कांग्रेस को पुनः एकजुट करने की थी परंतु मेहता अनिच्छुक थे। 1908 की कांग्रेस, जिसे मेहता कांग्रेस के नाम से भी जाना जाता है, उसमें सिर्फ नरमपंथियों ने हिस्सा लिया, जो कि ब्रिटिश राज के प्रति निष्ठा में दृढ़ थे। परन्तु तिलक की मृत्यु और अरविंदो घोष द्वारा सन्यासी का जीवन अपना लेने के पश्चात् गरमपंथी राजनीति ने भी अपनी दिशा खो दी। इसके उपरांत ये दोनों धड़े अलग ही रहे और 1920 में गांधी ने इन्हें पुनः एकजुट किया।

## 8.5 हिंसा का रास्ता

1908 तक राजनीतिक स्वदेशी निश्चित रूप से अवसान पर था और इसने व्यक्तिगत हिंसा का आकार ले लिया था। सरकार का तर्क है कि प्राथमिक रूप से राष्ट्रवादियों द्वारा व्यापक जनसमूह की लामबंदी के प्रयासों की असफलता के कारण अहिंसक पंथ से हिंसा की तरफ झुकाव हुआ। बंद्योपाध्याय का विचार है कि 1857 के विद्रोह के दमन के बाद भी राजनीतिक विरोध के एक साधन के रूप में हिंसा की प्रवृत्ति का एक आकर्षण था। बंकिमचंद्र और विवेकानन्द की रचनाओं ने शिक्षित बंगाली युवा वर्ग की नवीनतम पीढ़ी के बीच पौरुष के भाव का संचार किया, जिन्होंने सामाजिक सेवा तथा राष्ट्रीय गर्व के बोध का भी विकास किया। तथापि, बंगाल में क्रांतिकारी आंदोलन की वास्तविक कहानी चार समूहों की स्थापना से शुरू हुई, तीन कलकत्ता में और एक मिदनापुर में। ऐसा पहला संगठन था मिदनापुर सोसायटी, जिसकी स्थापना 1902 में हुई। इसके उपरांत बालीगंज सर्कुलर रोड

पर सरला घोषाल द्वारा एक जिम्नेजियम (व्यायामशाला) की स्थापना हुई। मार्च, 1902 में सतीशचंद्र बसु द्वारा ढाका अनुशीलन समिति की स्थापना की गई। तथापि, क्रांतिकारी आंदोलन को 1905 तक अधिक महत्व नहीं मिला और जब स्वदेशी आंदोलन शुरू हुआ तो इसने निश्चित रूप से बंगाल में खुफिया सोसाइटियों की गतिविधियों में बढ़ोतरी हुई। कलकत्ता में अरविन्दो घोष के छोटे भाई बारिन्द्र कुमार घोष, हेमचंद्र कानूनगो और प्रफुल्ल चाकी ने अनुशीलन समिति का नेतृत्व किया। अगस्त 1906 में, रंगपुर में पहली स्वदेशी डकैती की गई, जिसका उद्देश्य था पूंजी जुटाना, कलकत्ता में मानिकतला में एक बम बनाने की इकाई स्थापित की गई। कार्यकर्ताओं ने दमन करने वाले अधिकारियों और जासूसों की हत्या करने तथा धनवान साहा व्यापारियों के घरों में चोरी करने की योजना बनाई। ये वही साहा व्यापारी थे, जिन्होंने शुरू में विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार करने से मना कर दिया था। 30 अप्रैल, 1908 को मुजफ्फरपुर में खुदीराम बोस तथा प्रफुल्ल चाकी द्वारा प्रेसीडेंसी मजिस्ट्रेट किंग्सफोर्ड पर हुए जानलेवा हमले से यह आंदोलन चरमोत्कर्ष पर पहुंचा। तत्पश्चात पुलिस द्वारा संपूर्ण समूह तथा अरविन्दो और बारिन्द्र कुमार को ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध हिंसक गतिविधियों को प्रोत्साहित करने के आरोप में गिरफ्तार कर लिया गया।

यह आंदोलन कोई प्रत्यक्ष लाभ प्राप्त नहीं कर पाया और इसके अधिकतर प्रयास असफल रहे। इनका यह विश्वास नहीं था कि हत्याएँ और डकैतियाँ भारत की स्वतंत्रता लाएंगी, जैसा कि सशस्त्र क्रांति के संबंध में अरविन्दो का मूल विचार था। तथापि, यह तर्क देना भी गलत होगा कि उन्होंने बहुत कुछ हासिल नहीं किया, अपितु, यह इंगित किया गया है कि उन्होंने काफी कुछ हासिल किया। खुदीराम बोस को फांसी पर लटकाये जाने और मानिकतला बम साजिश पर चले मुकदमे का प्रेस ने खूब प्रचार किया और इसे बंगाली लोकगीतों में अमर बना दिया गया। इन सबने निश्चित रूप से उन कल्पनाओं को प्रभावित किया, जो ब्रिटिश राज के दमनकारी शासन की आलोचक बन गईं। सी.आर.दास. जो अब भी बैरिस्टर के रूप में ख्याति अर्जित नहीं कर पाये थे, अरविन्दो के बचाव पक्ष के वकील के रूप में प्रस्तुत हुए और यह तर्क दिया कि यदि सरकार स्वतंत्रता के सिद्धांत का उपदेश देना एक अपराध मानती है तो अभियुक्त निश्चित रूप से एक अपराधी है। अरविन्दो अपराधमुक्त कर दिये गये किन्तु उनके छोटे भाई बारिन्द्र तथा उल्लासकर दत्त को मृत्युदण्ड तथा दस अन्य को काला पानी की सजा दी गई। बाद में, मृत्युदण्ड की सजा पर की गई अपील के फलस्वरूप उसे आजीवन कारावास में बदल दिया गया तथा कुछ अन्य अभियुक्तों की सजा भी कम की गई। मानिकतला बम केस ट्रायल ने क्रांतिकारियों को भूमिगत होने पर मजबूर कर दिया और यह विकेंद्रित हो गया। परन्तु, यह पूरी तरह समाप्त नहीं हुआ और नरमपंथियों की आरंभिक भिक्षुकवृत्ति की नीतियों को कम करने हेतु एक प्रभावी विकल्प के रूप में यह कायम रहा। क्रांतिकारी राष्ट्रवाद ने जनता के एक ऐसे वर्ग में राजनीतिक वैधता प्राप्त कर ली, जिसका विश्वास था कि क्रांतिकारी गतिविधियाँ ब्रिटिशों को भारतीय सरजमीं से खदेड़ सकती हैं। 1909 में जब मार्ले-मिन्टो सुधारों की घोषणा की गई तो कइयों का यह विश्वास था कि क्रांतिकारी गतिविधियों द्वारा पैदा हुए भय ने ब्रिटिश सरकार को इस तरह के कदम उठाने को मजबूर किया है। वायसराय की कार्यकारिणी परिषद् में एक लॉ मेंबर के रूप में एस.पी. सिन्हा की नियुक्ति निश्चित रूप से इन गतिविधियों द्वारा पैदा किए गए दबाव का नतीजा थी। 1911 में बंगाल के विभाजन का निरस्त किया जाना कुछ अर्थों में क्रांतिकारी राष्ट्रवादियों द्वारा पैदा किए गए लोकप्रिय दबाव के उभार का नतीजा था। विभाजन के निरस्त किए जाने के बाद भारत की राजधानी कलकत्ता से दिल्ली स्थानांतरित करने का निर्णय लिया गया। यह अपने आप में एक अत्यंत महत्वपूर्ण निर्णय था क्योंकि इसने भारत की राजनीति में बंगाली प्रभुत्व को लगभग समाप्त

कर दिया। इस संदर्भ में यह तर्क दिया जा सकता है कि इस निर्णय ने बंगाली राजनीतिज्ञों को कमजोर करने के लॉर्ड कर्जन के लक्ष्य को पूरा कर दिया।

विभाजन के निरस्तीकरण के बावजूद भी क्रांतिकारी राष्ट्रवाद समाप्त नहीं हुआ। वास्तव में, यह केवल विभाजन की वजह से ही पैदा नहीं हुआ। अब क्रांतिकारी गतिविधियाँ बंगाल से हटकर पंजाब और उत्तर प्रदेश में केंद्रित हो गईं, जहां पर उत्तरी अमेरिका से वापस लौट रहे पंजाबी बंगाली कार्यकर्ताओं से मिल गए। इन लोगों ने औपनिवेशिक राज्य के विरुद्ध क्रांतिकारी गतिविधियों के संचालन हेतु क्रांतिकारी गदर पार्टी का निर्माण किया। सन् 1912 में, गदर पार्टी के लोग वायसराय लॉर्ड हार्डिंग की हत्या के प्रयास में शामिल रहे। सितंबर 1914 में, जापानी जहाज कामागाटा मारु में सवार पंजाबी गदर कार्यकर्ता कलकत्ता के नज़दीक ब्रिटिश सेना से भिड़ गये। प्रथम विश्व युद्ध के विस्फोट ने भारतीय सेना में सशस्त्र विद्रोह के आयोजन की बड़ी योजनाओं को बढ़ावा दिया। क्रांतिकारी जर्मनी और जापान से सहायता प्राप्त करने के पक्ष में थे। रासबिहारी बोस ने लाहौर में रहकर संपूर्ण उत्तरी भारत में एक सैनिक विद्रोह कराने की कोशिश की। परन्तु उनके प्रयत्न सिपाहियों के अंदर जागृति पैदा करने में विफल रहे और अंततः उन्हें जापान भागना पड़ा। बंगाल में क्रांतिकारियों ने जतिन मुखर्जी के नेतृत्व में जर्मनी की रोडा कंपनी द्वारा निर्मित हथियारों की तस्करी करने की कोशिश की। तथापि, यह कार्य सुव्यवस्थित नहीं था और मुखर्जी स्वयं उड़ीसा में बालासोर के निकट ब्रिटिश पुलिस के साथ मुठभेड़ में मारे गये। ब्रिटिश सरकार द्वारा चलाए गए दमनचक्र और 1915 के भारत सुरक्षा अधिनियम के लागू किए जाने से भारत में क्रांतिकारी आक्रमणों को धक्का लगा। परन्तु क्रांतिकारी हिंसा की भावना और कुछ क्षेत्रों में इसकी प्रवृत्तियाँ लोकप्रिय आंदोलनों के साथ मिल गईं, जिसका प्रत्यक्ष साक्ष्य तब मिला जब राजद्रोह समिति ने रोलट विधेयक को प्रस्तुत करने की कोशिश की। महात्मा गांधी अब नेतृत्व के केन्द्र में आ गए और उन्होंने राजनीति के एक नये चरण की शुरुआत की, जब केन्द्र बिन्दु हिंसा से अहिंसा की तरफ और अभिजात तरीकों से जन प्रायोजित तरीकों की तरफ मुड़ गया था।

## 8.6 स्वदेशी आंदोलन का प्रभाव

विभाजन विरोधी प्रदर्शन और स्वदेशी आंदोलन राष्ट्रीय विचारों के आधिकारिक और अभिजातवर्गीय घेरों से परे विस्तार हेतु जिम्मेदार थे। वास्तव में, ये प्रदर्शन विद्यार्थियों और शिक्षकों के लिये रचनात्मक अनुभव थे, जिन्होंने राष्ट्रवाद को उसका प्रमुख लोकप्रिय, आदर्शवादी, प्रगतिशील और यहां तक कि क्रांतिकारी अर्थ भी दिया। समाचार, वाद-विवाद और लोक-वार्ताएँ प्रमुख शहरी केंद्रों के जनसंस्कृति में प्रवेश कर गए। दूसरी तरफ पुलिस के दमन को गीतों, कविताएँ, व्यंग्यचित्रों, संपादकियों और जन वक्तृत्व में चित्रित किया गया। वस्तुतः ब्रिटिश निर्दयता के साथ मिला हुआ विक्टोरियन नस्लवाद भारतीय राष्ट्रीय आकांक्षाओं के विरोध में खड़ा था। राष्ट्रवाद एक राजनीतिक आंदोलन बन गया, जो कि भारत के देशज समाज की विशाल जनसंख्या की तुलना में छोटा होने के बावजूद भी राष्ट्रीय सीमाओं से निर्णायक रूप से परे पहुंचा और इसने विदेशियों का ध्यान भी आकर्षित किया। भारत के बाहर बसे कई मिलियन भारतीय भी इस आंदोलन से जुड़ गए। कैलिफोर्निया में पंजाबी सिक्ख किसानों में से कुछ कार्यकर्ताओं ने समाचार पत्र निकाले और भारतीय हितों के समर्थन हेतु धनराशि जुटाई।

यह अधिक महत्वपूर्ण था कि आंदोलन में भारतीय राजनीतिज्ञों की जो नई पीढ़ी उभरी, वह प्राथमिक रूप से बंगाल, पंजाब और महाराष्ट्र से आई। उदारवादी नेता गोपालकृष्ण गोखले ने 1902 में फर्ग्युसन कॉलेज, पुणे में इतिहास तथा राजनीतिक अर्थशास्त्र के अध्यापक का

पद छोड़ दिया और पूर्णकालिक रूप से राजनीति में शामिल हो गए। 1895 में उन्होंने कांग्रेस अध्यक्ष की हैसियत से नरमपंथियों का नेतृत्व किया और अधिकतर नरमपंथियों की तरह सामाजिक सुधार के तरीकों की वकालत की जो कि गरमपंथियों के एजेंडे में थे। गोखले ने सर्वेन्ट्स ऑफ इंडिया सोसायटी की भी स्थापना की जिसके सदस्यों ने गरीबी और गरीबों की सेवा करने की प्रतिज्ञा ली, खासकर हिन्दू समाज में शामिल उन दरिद्र अछूत जातियों की जो कि समाज की मुख्य धारा से बहिष्कृत थे। एक अन्य महत्वपूर्ण नेता बाल गंगाधर तिलक ने मराठी में *केसरी* और अंग्रेजी में मराठा नामक समाचार पत्र निकाले परंतु वे सामाजिक सुधारों के विरोधी थे क्योंकि उनकी मान्यता थी कि ये राष्ट्रीय लक्ष्यों से भटकाते हैं।

गौरतलब है कि यद्यपि कांग्रेसी राष्ट्रवाद स्वदेशी समाज को संपूर्णता में संबोधित करता था, इसके जनप्रदर्शनों ने अन्य आधिकारिक और अनाधिकारिक सामाजिक अस्मिताओं को शामिल किया और भड़काया। विभाजन विरोधी आंदोलन में शहरी अंग्रेजी शिक्षित युवा के उभार को भी देखा, जिसकी पेशेवर संभावना बंगाल के विभाजन के कारण क्षीण हो गई थी। बहुसंख्यक अंग्रेजी शिक्षित युवा, जो अपनी शिक्षा के लिये कलकत्ता आए थे, वापस गाँवों तथा शहरों में चले गए और स्वदेशी के संदेश को फैलाया। हिन्दू भक्तवाद की लोकप्रिय अपील ने गरीब से गरीब लोगों में भी आंदोलन की लपटों को हवा दी। सर्वदेशीय शिक्षित वर्ग ने देशभक्तिपूर्ण प्रेम के मंदिर से बहिष्कृत भक्तों के बीच भी उन लोगों के अत्याचार के विरुद्ध जोश जागृत कर दिया जो कि उनकी देवी को अपमानित कर रहे थे। उनके द्वारा लिखे हुए देशी भाषा की कविताएँ उस क्षेत्रीय भाषिक अस्मिता को व्यक्त करती थीं, जिनकी पहचान भारतीय राष्ट्र से जुड़ाव में थी।

पूर्वी बंगाल में विभिन्न सामाजिक अस्मिताओं, विभिन्न क्षेत्रों, जन-जातीय समूहों तथा पंथों से आने वाले मुस्लिम नेताओं ने साथ मिलकर एक पुरानी आधिकारिक पहचान निर्मित की, जो कि कालांतर में एक राजनीतिक अस्मिता बन गई जब वे 1906 में ढाका में अखिल भारतीय मुस्लिम लीग की स्थापना हेतु जुटे। लीग ने कर्जन के विभाजन के प्रस्ताव का समर्थन किया और भारतीय मुस्लिमों के प्रतिनिधि के रूप में कांग्रेस के विरुद्ध खड़ी हुई। 1906 में मुस्लिम लीग के नेताओं ने महसूस किया कि अलग पूर्वी बंगाल प्रांत का निर्माण निश्चित रूप से असम और बंगाल में आकांक्षी मुसलमानों के लिये लाभप्रद होगा। उनका विश्वास था कि कांग्रेस के इस प्रस्ताव का विरोध करने के पीछे बंगाल में उच्चजातीय हिन्दू अभिजात वर्ग के आर्थिक निहितार्थ हैं। तथापि, सारे मुस्लिम नेता एक तरह से नहीं सोचते थे। मुहम्मद अली जिन्ना और कई अन्य मुसलमानों का यह विश्वास था कि कांग्रेस ने मुस्लिम हितों के लिये काम किया है।

स्वदेशी आंदोलन के नतीजों ने जन सक्रियता द्वारा निराश राजनीतिक अस्मिताओं का एकीकरण किया, जिसने अधिकतर राष्ट्रीय नेताओं को प्रभावित किया। कलकत्ता राष्ट्रीय भावनाओं का केंद्र बना रहा किन्तु पूना, बंबई, अहमदाबाद, दिल्ली, लाहौर, लखनऊ, इलाहाबाद में स्थित समूह और मद्रास जैसे स्थानों का राष्ट्रीय राजनीति में प्रवेश हुआ। 1910 के मध्य तक गरमपंथियों और नरमपंथियों के बीच के मतभेद लगभग क्षीण हो चुके थे। नई कशमकश यह थी कि देश के विभिन्न दिशाओं में खींच रही शक्तियों के बीच समान उद्देश्य को किस प्रकार प्राप्त किया जाए। 1909 में गांधी द्वारा गुजराती में लिखा गया *हिन्द स्वराज*, जो कि 1910 में अंग्रेजी में भी आया, ने औपनिवेशिक भारत में राष्ट्रवाद के एक नये दृष्टिकोण को प्रस्तुत किया। उसी समय विनायक दामोदर सावरकर ने *भारत का स्वतंत्रता संघर्ष* में राष्ट्रवाद के एक अधिक उग्र हिन्दू दृष्टि को सामने रखा। 1915 में, जब गांधी दक्षिण अफ्रीका से वापस भारत आए, उस समय प्रमुख शहरों में भारतीय स्वतंत्रता के विचार

का प्रचार करने में होम रूल लीग काफी सक्रिय थी। राष्ट्रवादी नेता चितरंजन दास राष्ट्र को उपयोगितावादी तरीके से परिभाषित करने की दुविधा को सुलझाने में लगे थे। उनका और कई अन्य का ऐसा विश्वास था कि भारत में विकास भारत की विशिष्ट और सर्वसमावेशी राष्ट्रीय संस्कृति के आधार पर ही होना चाहिए। परन्तु, जहां मिली-जुली संस्कृति के आह्वान पर गांधी ने लगातार जोर दिया और जो उनके असहयोग, खिलाफत आंदोलनों में व्यक्त हुआ, वहीं दूसरी तरफ हिन्दू और मुस्लिम सांप्रदायिकता को मिटाया नहीं जा सका। 1920 के दशक के असहयोग आंदोलन का अनुगमन जिन दंगों ने किया, उन्होंने समस्त संदेहों के परे यह सिद्ध कर दिया कि जिन वर्ग और सांप्रदायिक रूचियों ने हिन्दूओं तथा मुसलमानों को बंगाल के विभाजन के बाद के वर्षों में विभाजित किया था, वे भारतीय राजनीति में बनी रहीं और इन्होंने सबको समाहित करने के राष्ट्रवादी आंदोलन के उच्चादर्शों को नष्ट कर दिया।

---

## 8.7 सारांश

---

स्वदेशी आंदोलन राष्ट्रवादी राजनीति की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि था। नरमपंथियों की भिक्षुकवृत्ति की राजनीति से हुए मोहभंग तथा ब्रिटिशों के नस्लीय तथा विभेदपूर्ण नीतियों से उपजे क्रोध ने संपूर्ण भारतवर्ष और खासकर, बंगाल, महाराष्ट्र और पंजाब में युवकों को आंदोलित कर दिया। बंगाल के विभाजन ने राष्ट्रवादी जोश को उच्च स्तर तक प्रज्वलित करने हेतु चिंगारी प्रदान की। संपूर्ण प्रांत में राष्ट्रवादी नेताओं द्वारा आयोजित विरोध प्रदर्शनों में लोगों ने बड़ी संख्या में भाग लिया। ये प्रदर्शन काफी समय तक चले। औपनिवेशिक सरकार के दमनचक्र तथा लोगों की मांगों के प्रति इसकी उदासीनता ने क्रांतिकारी राष्ट्रवाद को जन्म दिया, जो भारत के कई भागों में फैल गया।

---

## 8.8 अभ्यास

---

- 1) वे कौन-से कारण थे जिन्होंने स्वदेशी आंदोलन को जन्म दिया?
- 2) स्वदेशी आंदोलन के दौरान किये गये विरोध प्रदर्शनों की विविधता की विवेचना कीजिये।
- 3) स्वदेशी आंदोलन के पतन के कारणों की चर्चा कीजिये।



- एंड्रियस पिकेल, 'एक्सप्लेनिंग, एण्ड एक्सप्लेनिंग विद, इकॉनामिक नेशनलिज्म' नेशनल्स एण्ड नेशनलिज्म, 9 (1), 2003.
- अनिल सील, दि इमर्जेन्स ऑफ इंडियन नेशनलिज्म : काम्पटिशन एण्ड कोलाबोरेशन इन दि लेटर नाइनटिन्थ सेन्चुरी, कैम्ब्रिज : कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, 1968
- आशीष नंदी, दि इंटीमेट एनमी : लॉस एण्ड रिकवरी ऑफ दि सेल्फ अण्डर कोलोनियलिज्म, आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, न्यू डेल्ही, 1983
- भीखू पारेख, कोलोनियलिज्म, ट्रेडिशन एण्ड रिफॉर्म : एन एनलिसिस ऑफ गांधीज़ पॉलिटिकल डिस्कॉर्स, सेज पब्लिकेशन्स इंडिया प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, 1988
- बिपिन चंद्रा एण्ड अदर्स, इंडियाज़ स्ट्रगल फॉर इंडिपेंडेंस, वाइकिंग, नई दिल्ली, 1988, चैप्टर 6.
- बिपिन चंद्रा, दि राइज़ एण्ड ग्रोथ ऑफ इकॉनामिक नेशनलिज्म इन इंडिया, दिल्ली, पीपुल पब्लिशिंग हाउस, 1966.
- सी.ए. बेली, दि लोकल रूट्स ऑफ पॉलिटिक्स, इलाहाबाद, 1880—1920, ऑक्सफोर्ड : क्लैरेन्डन प्रेस, 1975.
- एरिक हेलेनर, 'इकॉनामिक नेशनलिज्म ऐज़ ए चैलेंज इकॉनामिक लिबरलिज्म? : लेसन्स फ्रॉम दि नाइनटिन्थ सेन्चुरी', इंटरनेशनल स्टडीज़ क्वार्टरली, 46, 2002.
- जॉर्ज क्रोन, 'इकॉनामिक नेशनलिज्म : ब्रिगिंग दि नेशन बैक इन', मिलेनियम, 27, 1998.
- होमी भाभा (सं.), नेशन एण्ड नैरेशन, ऑक्सफोर्ड : रूटलेज, 1990.
- होमी भाभा, 'ऑफ मिमिक्री एण्ड मैन : दि एंबीवेलेन्स ऑफ कोलोनियल डिस्कॉर्स', लोकेशन ऑफ कल्चर, ऑक्सफोर्ड : रूटलेज, 1994.
- जॉन आर. मैकलेन, इंडियन नेशनलिज्म एण्ड दि अर्ली कांग्रेस, प्रिंसटन युनिवर्सिटी प्रेस, 1977.
- जॉन ऑर मैकलेन, दि पॉलिटिकल अवेकनिंग इन इंडिया, 1970
- केनेथ डब्ल्यू. जोन्स, दि कैंब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया : सोशियो — रिलिजियस रिफॉर्म मूवमेन्ट्स इन ब्रिटिश इंडिया, कैंब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, 1989.
- मनु गोस्वामी, 'फ्रॉम स्वदेशी टू स्वराज : नेशन, इकॉनमी, टेरिटरी इन कोलोनियल साउथ एशिया, 1870 टू 1907', कंपरेटिव स्टडीज़ इन सोसायटी एण्ड हिस्ट्री, वोल्यूम 40, नंबर 4, 1998.
- मुशिरूल हसन (सं.), कम्प्यूनल एण्ड पैन—इस्लामिक ट्रेन्ड्स इन कोलोनियल इंडिया, नई दिल्ली, मनोहर, 1985.
- पीटर हार्डी, दि मुस्लिम्स ऑफ ब्रिटिश इंडिया, कैम्ब्रिज, कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, 1972.
- रणजीत गुहा (सं.), अ सबाल्टर्न स्टडीज़ रीडर, 1986—1995, मिनीयापोलिस, युनिवर्सिटी ऑफ मेनीसोटा प्रेस, 1997.
- शेखर बंधोपाध्याय, फ्रॉम प्लासी टू पार्टिशन : ए हिस्ट्री ऑफ मॉडर्न इंडिया, ओरिएंट लांगमैन, न्यू डेल्ही, 2004.
- सुगता बोस एण्ड आयशा जलाल, मॉडर्न साउथ एशिया : हिस्ट्री, कल्चर, पॉलिटिकल इकॉनामी, लंडन एण्ड न्यूयॉर्क, रूटलेज, 1997.
- सुमित सरकार, स्वदेशी मूवमेंट इन बंगाल, 1903—8, न्यू डेल्ही, पीपुल पब्लिशिंग हाउस, 1973.
- ताकेशी नाकानो, 'थियोराइजिंग इकॉनामिक नेशनलिज्म', नेशनल्स एण्ड नेशनलिज्म, 10(3), 2004 ।